हिन्दी साहित्य का सुगम इतिहास

डॉ० हरे राम पाठक

हिन्दी साहित्य का सुगम इतिहास

डॉ० हरे राम पाठक,
एम.ए., पीएच.डी. (हिन्दी), साहित्यरत्न
हिन्दी विभागाध्यक्ष
डिगबोई महिला महाविद्यालय
डिगबोई (असम)

सुलभ प्रकाशन
लखनऊ

प्रकाशक : **सुलभ प्रकाशन**
17, अशोक मार्ग
लखनऊ - 226001

ISBN : 81-7323-127-3

संस्करण : प्रथम

वर्ष : 2001

मूल्य : 150.00 रुपये

लेज़र कम्पोजिंग : कम्पोजिंग प्वाइंट, विश्वास खंड, गोमती नगर, लखनऊ

आवरण चित्र : **क्रिऐशन प्वाइंट**, 13/12, टिकैत राय तालाब कालोनी,,
लखनऊ। फोन: 0522.416514

मुद्रक : **नॉर्दन ऑफसेट प्रेस**
टिकैत राय बड़ा तालाब, जे.के. मैरेज हाल
कम्पाउन्ड, मोहान रोड, लखनऊ।
फोन : 0522.419790

HINDI SAHITYA KA SUGAM ITIHAS

by : Dr. Hare Ram Pathak

Rs. 150.00

भूमिका

साधना की तपोभूमि भारतवर्ष के सपूतों ने जिन-जिन स्थलों में अपनी साहित्य-साधना की अलख जगायी है उनमें प्रकृति के सुरम्य अंचल में अवस्थित असम प्रदेश की मुख्य भूमिका रही है। इस प्रदेश में वर्षों से रहकर अध्ययन-अध्यापन करने का मुझे जो सौभाग्य प्राप्त हुआ है, प्रस्तुत पुस्तक उसी का प्रतिफलन है।

अभी तक हिन्दी साहित्य के अनेक इतिहास मौलिक रूप में लिखे जा चुके हैं, फिर भी भारत के अधिकांशतः विद्यार्थियों के समक्ष एक परीक्षोपयोगी हिन्दी साहित्य के सुबोध इतिहास का अभाव सदैव खटकता रहा है। विद्यार्थियों की सुविधाओं का ख्याल करते हुए प्रस्तुत पुस्तक का प्रणयन किया गया है। आशा है, विद्यार्थी-समाज मेरे इस प्रयास से पूर्ण लाभान्वित होगा।

अंत में मैं हिन्दी साहित्य के उन सभी इतिहास-लेखकों के प्रति अपना साधुवाद प्रकट करता हूँ जिनसे प्रस्तुत पुस्तक के लेखन में मुझे पर्याप्त सहायता मिली है। भूल-त्रुटियों के लिए सादर सुझाव आमंत्रित हैं।

-लेखक

26 जुलाई, 2000

प्रश्न-सूची

आदिकाल (वीरगाथा काल)

भक्तिकाल

□

आदिकाल (वीरगाथा काल)
(सम्वत् 1050 से 1375)

प्रश्न 1. हिन्दी साहित्येतिहास के काल विभाजन के प्रयासों की समीक्षा कीजिए।

अथवा

प्रश्न 2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल विभाजन किस आधार पर किया है ? क्या आपकी दृष्टि में यह काल विभाजन युक्तिसंगत है ? सतर्क एवं सप्रमाण उत्तर दीजिए।

अथवा

प्रश्न 3. हिन्दी साहित्य के इतिहास की सीमावधि एवं नामकरण सम्बन्धी प्रचलित विभिन्न विवादों पर विचार प्रकट करते हुए बताइये कि आपको कौन-सा विचार क्यों कर सही प्रतीत होता है ?

उत्तर - हिन्दी साहित्य का इतिहास लगभग साढ़े नौ सौ वर्ष प्राचीन है। अतः इसके समुचित अध्ययन एवं क्रमिक विकास का ज्ञान प्राप्त करने के लिये इसे विभिन्न कालावधियों में विभाजित करना अनिवार्य है। हिन्दी-साहित्य के विद्वानों में यद्यपि इस विभाजन को लेकर काफी मतभेद रहा है तथापि आज बहुत-सी बातें स्पष्ट हो गयी हैं। हिन्दी साहित्य के विद्वानों ने इस विभाजन की मूलतः दो प्रक्रियाएँ अपनायी हैं एक, समय-सूचक नामकरण और दूसरे, कथ्य-सूचक नामकरण। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कथ्य के आधार पर ही विभिन्न कालों का नामकरण किया है।

काल-विभाजन का सर्वप्रथम प्रयास सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने अपनी पुस्तक 'द मार्डर्न वर्नाक्यूलर, लिटरेचर आव हिन्दुस्तान' में किया था। उन्होंने आदिकाल का नाम 'चारण काल' रखते हुए उसका प्रारंभ 700 ई. से माना है। इस प्रकार ग्रियर्सन महोदय ने हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ आठवीं सदी से मानकर अपभ्रंश-साहित्य को भी हिन्दी-साहित्य के अन्दर ही समेट लिया था। यह उनकी बहुत बड़ी गलती थी। साथ ही उनके काल-विभाजन के विभिन्न शीर्षक अध्यायों के शीर्षक से प्रतीत होते हैं।

जॉर्ज ग्रियर्सन के उपरान्त मिश्र बन्धुओं का 'मिश्र बन्धु-विनोद' ग्रंथ प्रकाश में आया। मिश्र बन्धुओं ने जार्ज ग्रियर्सन की सीमावधि का अनुकरण करते हुए हिन्दी साहित्य का आरम्भ आठवीं सदी से माना एवं उसे आरम्भिक,

माध्यमिक, अलंकृत, अज्ञात, परिवर्तन और वर्तमान कालों में विभाजित किया। फिर भी यह काल-विभाजन ग्रियर्सन द्वारा किये गए काल-विभाजन की तुलना में अधिक तर्कसंगत था।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का काल-विभाजन - 'मिश्र बन्धु विनोद' के उपरान्त सन् 1940 में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पूर्ण संशोधित होकर सामने आया। अपने इस इतिहास में शुक्ल जी ने अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी साहित्य से अलग करते हुए उसका प्रारंभ ग्यारहवीं सदी से माना तथा विभाजन एवं नामकरण का मुख्य आधार कथ्य को माना। अर्थात् जिस काल खण्ड के भीतर जिस प्रवृत्ति-विशेष से सम्बन्धित रचनाओं की प्रचुरता मिली, उस कालखण्ड का नाम उन्होंने उसी प्रवृत्ति-विशेष के आधार पर रख दिया। अतः उन्होंने काल-विभाजन इस प्रकार किया है -

(क) आदिकाल (वीरगाथा काल, सम्वत् 1050-1375)
(ख) पूर्वमध्यकाल (भक्तिकाल, सम्वत् 1375-1700)
(ग) उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल सम्वत् 1700-1900)
(घ) आधुनिककाल (गद्यकाल, सम्वत् 1900..........)

विभिन्न विद्वानों ने आचार्य शुक्ल द्वारा किये गए काल-विभाजन एवं उनके नामकरण पर आपत्ति उठाई है एवं उसके समाधान हेतु अपना तर्क प्रस्तुत किया है। हम शुक्ल जी की मान्यताओं पर विचार करते हुए परवर्ती विद्वानों के विचारों को भी देखेंगे।

(क) वीरगाथा काल - शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्य के आरम्भिक युग को 'वीरगाथा काल' कहा है। स्पष्ट है कि शुक्ल जी ने प्रवृत्तियों के आधार पर नामकरण किया है। उन्होंने आदिकाल का नाम 'वीरगाथा काल' इसीलिए किया है क्योंकि उस युग की अधिकांशतः रचनाएँ वीर गाथाओं से युक्त हैं। परन्तु आचार्य द्विवेदी जी का मत है कि "इधर हाल की खोजों से पता चलता है कि जिन 12 पुस्तकों के आधार पर शुक्ल जी ने इस काल की प्रवृत्तियों का विवेचन किया है उनमें से कई पीछे की रचनाएँ हैं और कई नोटिस मात्र हैं और कई के सम्बन्ध में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उनका मूल रूप था।" अतः शुक्ल जी ने जिन 'रासो' ग्रंथों के आधार पर हिन्दी साहित्य के आरम्भिक काल को 'वीरगाथा काल' कहा है, अब उनमें से अधिकांश ग्रन्थों को विद्वानों ने अप्रामाणिक सिद्ध कर दिया है। आलोचकों के अनुसार उस युग के साहित्यिक ग्रंथों में केवल वीर भावना ही ध्वनित नहीं होती है, बल्कि, जैन एवं

सिद्ध कवियों द्वारा रची गई रचनाओं में श्रृंगार, रहस्योपासना, खंडन-मंडन आदि विविध प्रकार की प्रवृत्तियों का मिश्रण रहा है। इसलिये इस युग में किसी एक भाव या कथ्य का प्रभाव न रहने के कारण इस काल का नामकरण किसी एक प्रवृत्ति के आधार पर करना असंगत है। अस्तु,

यही कारण है कि शुक्ल जी के परवर्ती विद्वानों ने आदिकाल का नामकरण कथ्य सामग्री के आधार पर न करके समय के आधार पर करना अधिक युक्तिसंगत समझा। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य के आरम्भिक काल को 'आदिकाल', डॉ॰ रामकुमार वर्मा ने 'संधिकाल एवं चारण काल', आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'वीज-वपन काल' तथा राहुल सांकृत्यायन ने 'सिद्ध-सामन्त युग' कहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी साहित्य के आरम्भिक काल में रासो-ग्रन्थों, अमीर खुसरो की खड़ी बोली की रचनाओं, विद्यापति की पदावली तथा मुल्ला दाउद के रचे प्रेम काव्य जैसी विविधमयी रचनाएँ देखने को मिलती हैं। अतः इस काल में किसी एक ही प्रवृत्ति की प्रधानता न होने के कारण इसे 'हिन्दी साहित्य का आरंभिक काल' कहना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

सीमा निर्धारण - डॉ. रामकुमार वर्मा एवं पं. राहुल सांकृत्यायन प्रभृति विद्वानों ने हिन्दी साहित्य के आदिकाल का प्रारंभ आठवीं शताब्दी से माना है। परन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. श्याम सुन्दर दास, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रभृति विद्वानों ने आदिकाल की अवधि सं. 1050 से 1375 तक ही माना है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आदिकाल को सं. 1400 तक मानते हैं। अतः मोटे तौर पर आदिकाल की सीमावधि ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक ही न्यायसंगत ठहरती है।

भक्तिकाल - शुक्ल जी द्वारा निर्धारित इस नामकरण एवं सीमावधि से प्रायः सभी विद्वान सहमत हैं। इस युग में भक्ति भावना की प्रधानता को देखकर ही कथ्य के आधार पर शुक्ल जी ने इसका नाम भक्तिकाल रखा। भक्तिकाल को उन्होंने निर्गुण एवं सगुण नामक दो धाराओं में विभाजित किया है। निर्गुण भक्ति धारा के अंतर्गत उन्होंने ज्ञानाश्रयी एवं प्रेममार्गी नामक दो विभाग किये हैं। इसी प्रकार सगुण भक्ति धारा के अंतर्गत भी राम भक्ति एवं कृष्ण भक्ति नामक दो उप-विभाग किये गये हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार ज्ञानाश्रयी शाखा के कवियों में ज्ञान की गुरुता एवं गंभीरता उभरकर नहीं आयी है, बल्कि उनकी रचनाओं में ज्ञान का आभास मात्र ही दिखलाई पड़ता है। यही कारण है कि डॉ. कृष्णलाल 'ज्ञानाश्रयी शाखा' का नाम 'ज्ञानभाषाश्रयी शाखा' रखना अधिक

युक्तिसंगत समझते हैं। इसी प्रकार विद्वानों का दूसरा आक्षेप है कि 'प्रेममार्गी' भक्त कवियों की रचनाओं में निर्गुण ब्रह्मभक्ति का आलम्बन न होकर 'प्रेम की पीर' का ही आलम्बन रहा है। अतः भक्ति के लिये आवश्यक श्रद्धा का अभाव इसमें भी पाया जाता है। अतः इसे भक्ति काव्य न कहकर 'प्रेम काव्य' कहना अधिक युक्तिसंगत होगा। फिर भी इन प्रेममार्गी काव्यों को भक्ति से पूर्णतः अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि इसमें आत्मा-परमात्मा के विरह-मिलन एवं दिव्यता सम्बन्धी बहुत बातें स्पष्ट हैं।

चूँकि भक्ति के इस आंदोलन का बीज-वपन हिन्दी साहित्य के आदिकाल में ही हो चुका था और उसका विकसित रूप मध्यकाल में देखने को मिला, अतः संपूर्ण भक्तिकाल को 'धार्मिक नवोन्मेष का काल' कहना अधिक युक्तिसंगत होगा। राजनाथ शर्मा – प्रभृति विद्वानों ने इसे मुक्त कंठ से स्वीकार किया है।

सीमा निर्धारण - आचार्य शुक्ल ने भक्तिकाल की सीमावधि पन्द्रहवीं से लेकर सत्रहवीं सदी के अन्त तक स्वीकार किया है। भक्तिकाल की इसी सीमावधि को आज तक के विद्वान स्वीकार करते आये हैं।

रीतिकाल - हिन्दी साहित्य के इस युग के नामकरण के सम्बन्ध में विद्वानों में काफी मतभेद रहा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. नगेन्द्र, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा डॉ. श्याम सुन्दर दास ने इसे 'रीतिकाल' के नाम से ही अभिहित किया है। मिश्र बन्धुओं ने इस काल को 'अलंकृत काल' तथा रमाशंकर शुक्ल ने 'कलाकाल' कहा है। चूँकि, इस युग में रीति ग्रंथों (लक्षण ग्रंथों) की रचना अधिक हुई, अतः विद्वानों का एक वर्ग इसे 'रीतिकाल' नाम देना ही अधिक सार्थक समझता है। परन्तु लक्षण ग्रंथों के अतिरिक्त इस युग में श्रृंगारिक रचनायें भी काफी तादाद में लिखी गयीं, जिन्हें देखते हुए श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और डॉ. त्रिभुवन सिंह जैसे विद्वानों ने इसे 'श्रृंगार काल' कहना ही अधिक युक्तिसंगत बताया है।

इस प्रकार आधुनिक खोजों के आधार पर यह प्रमाणित हो चुका है कि इस काल का मुख्य कथ्य 'श्रृंगार' रहा है, चाहे वह रीति काव्यों के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया हो या प्रेम प्रधान काव्यों के माध्यम से। इस युग में 'राधा-कृष्ण' सम्बन्धी भक्तिपरक रचनाएँ भी मिलती हैं परन्तु राधा और कृष्ण तो केवल बहाने-मात्र हैं, उनमें श्रृंगारिकता की ही प्रधानता है। रीति ग्रंथों के रचयिता कवियों में भी श्रृंगारिकता का पुट काफी अधिक है। घनानन्द जैसे रीतिमुक्त कवियों की रचनाओं में श्रृंगारिकता काफी मिलती है। अतः भूषण, लाल, सूदन तथा नीतिपरक कुछ कवियों की रचनाओं को छोड़कर शेष रचनाएँ

श्रृंगारिकता से ही आप्लावित दृष्टिगोचर होती हैं। अतः इस काल को 'श्रृंगार काल' कहना अधिक उचित होगा। भूषण आदि वीर रस के कवियों का विवेचन उप-शीर्षकों के अन्दर करके करना ठीक होगा।

सीमा निर्धारण - इस काल की सीमावधि आचार्य शुक्ल ने संम्वत् 1700 से 1900 तक माना है। अर्थात् विक्रम संवत् की अठारहवीं से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के उतरार्द्ध तक इसकी सीमावधि है। आचार्य शुक्ल के इस सीमा निर्धारण से प्रायः सभी विद्वान सहमत हैं।

आधुनिक काल : शुक्ल जी ने रीतिकालोत्तर युग को 'आधुनिक काल' नाम दिया है। उन्होंने इस काल को गद्य और पद्य नामक दो खण्डों में विभाजित कर उसका अलग-अलग विवेचन किया है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि 'आधुनिक काल' कब तक आधुनिक बना रहेगा ? आधुनिक काल के अंतर्गत भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग, प्रेमचन्द-प्रसाद युग आदि व्यक्ति विशेष का नामकरण करते हुए छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद तथा प्रतीकवाद जैसे उप-शीर्षकों में भी इसे विभाजित करने का प्रयत्न किया गया है, परन्तु इन उप-विभागों से भी समस्या का समाधान नहीं होता। 'छायावाद' नाम में गद्य साहित्य पूर्णतः उपेक्षित रह जाता है, जो परिमाण में अधिक है। अस्तु, इन्हीं विवादों के जाल से बचने के लिये डॉ. श्यामसुन्दर दास ने इसे 'नवीन विकास का काल' कहा है। क्योंकि इस युग की अधिकांश रचनायें नवीन चेतना से अनुप्राणित दिखलाई पड़ती हैं। राजनाथ शर्मा भारतेन्दु से लेकर छायावाद तक के काल को 'सांस्कृतिक-सामाजिक नवोन्मेष' का काल कहना और उसके परवर्ती आज तक के युग को 'नवीन सामाजिक-राजनीतिक अनुचेतना का काल' कहना अधिक संगत समझते हैं। वे सम्पूर्ण 'आधुनिक काल' को 'पुनर्जागरण का काल' कहना उचित समझते हैं। डॉ. त्रिभुवन सिंह ने सन् 1857 से 1947 ई. तक के काल को 'जागरण काल' के नाम से अभिहित किया है। सारांशतः आधुनिक काल का साहित्य जितना वैभवशाली होता जाएगा, उसके नामकरण में उतनी ही उलझनें पैदा होती जायेंगी।

आज आवश्यकता इस बात की है कि देश की बदलती हुई परिस्थितियों एवं बदलते हुए मानव-मूल्यों के संदर्भ में रची जाती हुई रचनाओं को ध्यान में रखते हुए उसे विभिन्न उप-विभागों में कथ्य के आधार पर विभाजित करने का प्रयत्न करें तभी सफल हो सकेंगे।

प्रश्न 4- आदिकाल की प्रेरक परिस्थितियों का मूल्यांकन करें।

अथवा

प्रश्न 5. हिन्दी साहित्य के वीरगाथा काल की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों का विवेचन करें।

अथवा

प्रश्न 6. आदिकालीन साहित्य के प्रेरणा स्रोतों पर प्रकाश डालें।

उत्तर - साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब होता है। समाज की विभिन्न परिस्थितियाँ ही साहित्य-निर्माण का कारण बनती हैं। साहित्यकार तत्युगीन सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का जागरूक चितेरा होता है। यही कारण है कि उसकी रचनाओं में इन सारी परिस्थितियों का समुचित विवेचन मिलता है। साहित्यकार को अपने युग-विशेष से साहित्य रचना की खास प्रेरणा मिलती है और उसे वह अपने साहित्य में प्रतिबिम्बित कर देता है। हिन्दी साहित्य का आदिकाल भी इन सामाजिक परिस्थितियों से अलग नहीं रहा है। उस काल की विभिन्न परिस्थितियाँ निम्नलिखित प्रकार की रही हैं -

राजनीतिक परिस्थिति - सम्राट हर्षवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात् सम्पूर्ण उत्तरी भारत छोटी-छोटी रियासतों में विभक्त हो गया। किसी केन्द्रीय सत्ता के अभाव में सम्पूर्ण उत्तरी भारत में बिखराव आ गया। मध्यदेश अर्थात् हिन्दी भाषी प्रदेश अपने ही देश के पालवंशीय राजाओं, गुर्जरों तथा राष्ट्रकूटों के अधीन रहने लगा था। गुर्जरों एवं अन्य राजाओं के शक्तिहीन होने पर विदेशी यवनों के आक्रमण होने लगे थे। यद्यपि उत्तरी भारत के गहड़वालों एवं दिल्ली, अजमेर के चौहानों ने यवन आक्रामकों का डटकर मुकाबला किया, परन्तु आपसी फूट के कारण वे यवनों से पराजित होने लगे। अंततः यवन समूचे हिन्दी-प्रदेश पर छा गए। गुलाम वंश, तुगलक वंश, लोदी वंश आदि क्रमशः हिन्दी-भाषी प्रदेश के शासक बनते गये। परन्तु भारत के चौहानवंशीय एवं अन्य राजे भी बैठे नहीं रहे। वे निरन्तर युद्ध करते हुए अपनी वीरता का परिचय देते रहे।

दशवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक की राजनीतिक परिस्थितियाँ इतनी अस्त-व्यस्त एवं संकटपूर्ण रहीं कि उसमें कोई स्वस्थ लोक कल्याणकारी साहित्यिक विधा नहीं पनप सकी। कविता कामिनी तलवारों की झंकारों के बीच तांडव करती हुई देशी-राजाओं का यश-गायन कर उनके हृदय में अदम्य साहस एवं वीरता का संचार करने लगी। कविवर चन्दरवरदायी ने पृथ्वीराज का, जगनिक ने परमार्दिदेव का, भट्टकेदार और मधुकर भट्ट ने जयचन्द का एवं

नरपतिनाल्ह ने राजा वीसलदेव का प्रशस्ति-गायन कर उनके हृदय में वीर रस की सरिता प्रवाहित कर दी। यही कारण है कि इस युग की अधिकांशतः रचनाएँ वीरगाथात्मक हैं।

वह युग समष्टि रूप से देशव्यापी अराजकता, गृह-कलह, विद्रोहों, युद्धों और विदेशी आक्रमणों का युग था। अतः प्रत्येक राजकवि अपने आश्रयदाता राजा को सर्वश्रेष्ठ वीर सिद्ध करते हुए उसकी वीरता का वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण शैली में करते रहे।

सामाजिक परिस्थिति - उस समय का सारा समाज वर्ण-व्यवस्था पर आधारित था। समाज में ब्राह्मणों की विशेष प्रतिष्ठा थी। क्षत्रियों का मुख्य काम युद्ध करना था। 'पृथ्वीराज रासो' में क्षत्रियों के छत्तीस कुल की सूची दी गयी है। वैश्यों में भी स्थान और वंश परम्परा के अनुसार अनेक जातियाँ एवं उप-जातियाँ बन चुकी थीं। अलबरुनी के 'तहकीके हिन्द' के अनुसार, धोबी, चमार, जादूगर, डोम, धरकट, केवट, मल्लाह, बहेलिया, पासी, जुलाहा आदि समाज के अंत्यज थे। सती प्रथा और पर्दा प्रथा का प्रचलन था।

सामंतवादी व्यवस्था के कारण समाज उच्च वर्ग एवं निम्न वर्ग में विभक्त था। राजागण परस्पर एवं विदेशियों से लड़ते रहते थे। राजाओं को अपने व्यक्तिगत सम्मान एवं इज्जत की ही चिंता बनी रहती थी। युद्धों में लिप्त रहने के कारण जनता के सुख-दुःख के प्रति वे लापरवाह से रहने लगे थे। प्रजा के सुख-दुःख की चिन्ता उन्हें उतनी नहीं सताती थी, जितनी कि व्यक्तिगत चिन्ताएँ। यही कारण है कि इस युग के साहित्य में लोक-मंगल की कामना उपेक्षित रह गयी है।

समाज में नारी का महत्त्वपूर्ण स्थान था। उसे विभिन्न प्रकार के अधिकार प्राप्त थे, फिर भी वे एक मर्यादा के अन्दर रहती थीं। राजा जिस सुन्दरी पर मुग्ध हो जाते थे उसे अपहरण करने के लिए दल बल के साथ चल देते थे। ऐसी अवस्था में दोनों पक्षों में युद्ध भी होता था। अतः उस समय अपने-अपने राजाओं के आश्रित कवि-गण उक्त राजा का प्रशस्ति-गायन किया करते थे। फलस्वरूप वीरगाथाओं की ही प्रधानता रही।

धार्मिक परिस्थिति - राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के समान इस युग की धार्मिक परिस्थिति भी अंतर्विरोधपूर्ण थी। उस समय उत्तर भारत में प्रमुखतः तीन धर्म थे - पौराणिक हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म। इन तीनों प्रकार के धर्मावलम्बियों में परस्पर विरोध रहा करता था। बौद्ध धर्म विभिन्न शाखाओं में विभाजित हो अत्याचार एवं अनाचार का अड्डा बन गया था।

बौद्ध एवं जैन धर्मावलंबियों ने अपने-अपने धर्म की नींव मजबूत करने के लिए सनातन धर्म पर टीका-टिप्पणी करना प्रारम्भ कर दिया था। अपने धर्म को श्रेष्ठ ठहराने के लिए जैनियों ने अपने पुराणों में राम-सीता को जैन धर्म में दीक्षा लेते हुए दिखाया है।

सनातन धर्म की लुप्तप्राय स्थिति को देखकर उसकी पुनर्स्थापना के लिए केरल के शंकराचार्य ने अद्वैत सिद्धान्त का शंखनाद किया। परिणामस्वरूप पुनः सनातन धर्म अस्तित्व में आने लगा। रामानुजाचार्य एवं निम्बकाचार्य ने वैष्णव भक्ति के लिये नया मार्ग खोला। सनातन धर्म की पुनर्स्थापना से बौद्ध एवं जैन धर्म को गहरा धक्का लगा और इन धर्मों का प्रभाव धीरे-धीरे कम होने लगा। वास्तव में ब्राह्मण धर्म की पुनः प्रतिष्ठा ने भारतीय समाज में एक नयी क्रान्ति ला दी। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही कहा है - "असल में बौद्धधर्म के उच्छेद और ब्राह्मण धर्म की पुनः स्थापना से भारत की धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थिति में अभूतपूर्व क्रान्ति उत्पन्न हो गई।"

धार्मिक अंतर्विरोधों के इस युग में दो प्रकार की धार्मिक प्रवृत्तियाँ उभरीं - एक वह प्रवृत्ति थी जो रूढ़ियों को अपनाकर चली तथा दूसरी बाह्याडम्बरों के खंडन की ओर उन्मुख हुई। स्वामी रामानुजाचार्य, माधवाचार्य एवं निम्बकाचार्य पहली प्रवृत्ति को अपनाकर चले तथा नामदेव आदि संत दूसरी प्रवृत्ति को अपनाकर चले। मध्यकालीन भक्ति-युग में हम इन्हीं दो प्रवृत्तियों के प्रस्फुटित रूप को देखते हैं।

साहित्यिक परिस्थिति - हिन्दी-साहित्य के आदिकाल की साहित्यिक पृष्ठभूमि काफी समृद्धशाली रही है। उस समय संस्कृत साहित्य तो अपनी साहित्यिक गरिमा प्राप्त कर ही चुका था, अपभ्रंश साहित्य में भी उत्कृष्टतम रचनायें होने लगी थीं।

आदिकालीन हिन्दी साहित्य की परिस्थितियों को समझने के लिये उसके पूर्ववर्ती साहित्यों की जानकारी आवश्यक हो जाती है। यही कारण है कि अपभ्रंश-साहित्य की समृद्धशाली परम्पराओं एवं सिद्ध-नाथ और जैन साहित्य की साहित्यिक गरिमा को समझे बिना हम हिन्दी-साहित्य की आदिकालीन गरिमा को नहीं समझ सकते। क्योंकि परोक्ष रूप से अपभ्रंश एवं सिद्ध-नाथ एवं जैन साहित्यों का प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर बहुत ही व्यापक रूप से रहा है।

अपभ्रंश साहित्य जैन-धर्म का आश्रय प्राप्त कर सुन्दर कथा-काव्यों एवं मुक्तकों का सृजन कर रहा था। विभिन्न काव्य रूपों में अपभ्रंश साहित्य पुष्पित एवं पल्लवित होने लगा था। 'संदेश रासक' जैसे अमर काव्य का प्रणयन इसी

युग में हुआ। जैन-साहित्य में धार्मिक चर्चायें अधिक हैं। यद्यपि सिद्ध और नाथ-साहित्य में हमें उच्च कोटि के साहित्य नहीं मिलते तथापि भाषा की दृष्टि से इन साहित्यों ने विशाल हिन्दी साहित्य के लिये भावी भाषा-क्रांति की सूचना दे दी। इस साहित्य में लोकभाषा स्थान पाने लगी थी।

इस काल में तीन प्रकार के साहित्यिक रूपों के दर्शन होते हैं - राज्याश्रित, लोकाश्रित और धनाश्रित। इन तीनों का विकसित रूप हमें 'रासो-काव्य', 'सिद्ध-नाथ-साहित्य' और 'विद्यापति तथा खुसरो की रचनाओं' में मिलते हैं। लोकाश्रित रचनाएँ लोकभाषा में रची गयी हैं और इसी से हिन्दी का विकास हुआ।

सारांशतः हिन्दी-साहित्य एवं इसकी भाषा का विकास अपभ्रंश एवं सिद्ध-नाथ तथा जैनियों की रचनाओं से ही पाया जाता है। यही कारण है कि बहुत से विद्वानों ने अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' कहा है। पं. रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार - "अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी के पद्यों का सबसे पुराना पतातांत्रिक और योगमार्गी बौद्धों की साम्प्रदायिक रचनाओं के भीतर विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण में लगता है।"

प्रश्न 7. 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता पर प्रकाश डालिए।

उत्तर - महाकवि चन्दवरदायी रचित 'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी साहित्य का प्रथम महाकाव्य माना जाता है। इस महाकाव्य की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। हिन्दी में सर्वप्रथम नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित 'रासो' में 69 समय अथवा सर्ग हैं और यह लगभग 2500 पृष्ठों में प्रकाशित हुआ है। ततपश्चात् सन् 1963 ई. में डॉ. माता प्रसाद गुप्त ने केवल 12 सर्गों में 'पृथ्वीराज रासो' नामक एक नवीन एवं वैज्ञानिक ग्रंथ का सम्पादन किया।

डॉ. वूलर ने 'पृथ्वीराज विजय' नामक एक ग्रंथ के आधार पर 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता में संदेह व्यक्त किया है। इसी को आधार बनाकर प्रसिद्ध इतिहासकार पं. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने यहाँ तक लिख दिया - "पृथ्वीराज रासो बिल्कुल अनैतिहासिक ग्रंथ है। उसमें राजपूतों की उत्पत्ति की कथा, चौहानों की वंशावली, पृथ्वीराज की माता, भाई-बहन, पुत्र और रानियों आदि के विषय की कथाएँ तथा बहुत-सी घटनाओं के संवत् अशुद्ध और कल्पित हैं।" फिर क्या था, रासो की प्रामाणिकता पर संदेह होने लगा।

'रासो' को अप्रामाणिक ग्रंथ मानने वाले विद्वानों में से जोधपुर के कवि राजा मुरारीदान, उदयपुर के कविराज श्यामल दास, डॉ. वूलर, मुंशी देवी

प्रसाद, श्री गौरी शंकर हीराचन्द ओझा, पं. रामचन्द्र शुक्ल तथा डॉ. रामकुमार वर्मा प्रमुख हैं। उक्त विद्वानों ने मुख्यतया निम्नलिखित बातों को लेकर 'पृथ्वीराज रासो' को अप्रामाणिक सिद्ध किया है -

(1) ऐतिहासिक तथ्य सम्बन्धी अशुद्धियाँ - 'पृथ्वीराज रासो' में निम्नलिखित ऐतिहासिक अशुद्धियाँ पायी जाती हैं, जिन पर विद्वानों ने संदेह प्रकट किया है -

(क) 'पृथ्वीराज रासो' में राजपूतों की चौवालिस वंशावलियों का उल्लेख है, परन्तु विभिन्न शिलालेखों और जयानक कृत 'पृथ्वीराज विजय' में केवल सात ही वंशावलियों के उल्लेख मिलते हैं।

(ख) 'रासो' में चौहानों की उत्पत्ति वशिष्ठ द्वारा रचे हुए यज्ञकुंड से बतायी गयी है, जबकि 'पृथ्वीराज विजय' एवं शिलालेखों के अनुसार चौहान सूर्यवंशी हैं।

(ग) 'रासो' में पृथ्वीराज की माता का नाम कमला है और उसे दिल्ली के राजा अनंगपाल की पुत्री बताया गया है, परन्तु 'पृथ्वीराज विजय' के अनुसार पृथ्वीराज की माता का नाम कर्पूरदेवी एवं पिता का नाम अचलराम ठहरता है।

(घ) 'रासो' में पृथ्वीराज के चौदह विवाह होने की घटना मिलती है, जबकि इतिहास में ऐसा कहीं देखने को नहीं मिलता।

(ङ) 'रासो' में पृथ्वीराज द्वारा शहाबुद्दीन की मृत्यु होने का वर्णन है जबकि ऐतिहासिक साक्ष्य के अनुसार उसकी मृत्यु गक्खरों द्वारा हुई।

(2) तिथियों की त्रुटियाँ - (क) 'रासो' के अनुसार पृथ्वीराज का जन्म सं. 1115 में हुआ था, जबकि ऐतिहासिक ग्रंथों एवं शिलालेखों के अनुसार उनका जन्म सं. 1220 है।

(ख) 'रासो' में सं. 1138 में पृथ्वीराज का दिल्ली की गद्दी पर बैठना, सं. 1151 में कन्नौज गमन तथा सं. 1158 में शहाबुद्दीन गोरी से युद्ध होना बताया गया है, परन्तु ऐतिहासिक विवरणों एवं शिलालेखों के आधार पर ये सारी बातें असत्य ठहरती हैं।

(3) भाषा सम्बन्धी त्रुटियाँ - आचार्य शुक्ल के अनुसार - "भाषा की कसौटी पर यदि ग्रंथ को कसते हैं, तो और भी निराश होना पड़ता है क्योंकि वह बिल्कुल बेठिकाने है - उसमें व्याकरण आदि की कोई व्यवस्था नहीं है।"

इस ग्रंथ की भाषा विविधमयी है। इसमें अरबी-फारसी के दस प्रतिशत शब्द हैं जो चन्द के समय प्रयुक्त नहीं होते थे। दूसरी ओर इसकी भाषा कहीं

संस्कृतमयी है, तो कहीं ब्रजभाषामयी, कहीं अपभ्रंश भाषा की पंक्तियाँ हैं, तो कहीं प्राकृत की। अतः भाषा के आधार पर रासो को प्राचीन एवं प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

(4) कवि की अनैतिहासिकता - विद्वानों के अनुसार 'पृथ्वीराज रासो' ग्रन्थ कवि चन्दरवरदायी का नहीं है क्योंकि 'पृथ्वीराज विजय' में पृथ्वीराज के मुख्य वन्दीजन का नाम 'पृथ्वीभट्ट' दिया गया है। इसीलिये ओझा जी चन्दवरदायी को पृथ्वीराज का समकालीन कवि तक नहीं मानते।

'पृथ्वीराज रासो' को प्रामाणिक मानने वाले विद्वानों में डॉ. श्यामसुन्दर दास, मोहनलाल विष्णुलाल पाँड्या, डॉ. दशरथ शर्मा तथा अगरचन्द नाहटा आदि प्रसिद्ध हैं। इन विद्वानों ने रासो की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये निम्नलिखित मत दिये हैं -

(1) ऐतिहासिक तथ्य संबंधी मत - विद्वानों के मतानुसार यद्यपि 'पृथ्वीराज रासो' में बहुत-सी अतिशयोक्तियाँ हैं, फिर भी काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित तत्कालीन पट्टे-परवानों को देखने से ऐतिहासिक तथ्यों की प्रामाणिकता स्पष्ट हो जाती है। उक्त विद्वानों का कथन है कि "यदि ओझा जी इन पट्टे-परवानों को जाली मानते हैं, तो वह उनका साहस मात्र है।"

श्री अगरचन्द नाहटा ने 'पृथ्वीराज-प्रबन्ध' तथा 'वस्तुपाल-प्रबंन्ध' के आधार पर यह सिद्ध किया है कि पृथ्वीराज और गोरी में युद्ध हुआ था तथा गोरी पृथ्वीराज को बन्दी बनाकर गजनी ले गया था।

डॉ. दशरथ शर्मा ने 'सुर्जन चरित' में आई हुई कांतिमती के स्वयंवर की कथा को 'संयोगिता स्वयंवर' से जोड़ा है और बताया है कि कांतिमती को ही यदि संयोगिता मान लिया जाय, तो यह विवाद समाप्त हो सकता है।

डॉ. दशरथ शर्मा ने जैन ग्रंथ 'पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह' के आधार पर सिद्ध किया है कि पृथ्वीराज सोमेश्वर का पुत्र था। उसने गजनी के शासक को सात बार पराजित किया और छोड़ दिया। अंतिम युद्ध में पृथ्वीराज पकड़ा गया उस समय चन्द एक गुफा में बन्द था।

'साहित्य संस्थान, राजस्थान विश्वविद्यालय पीठ उदयपुर' की ओर से प्रकाशित 'पृथ्वीराज रासो' ग्रन्थ के संपादकीय में कविराज मोहन सिंह ने चौहानों के मूलपुरुष का ब्रह्म यज्ञ के समय सूर्यमंडल से अवतरित होना सिद्ध किया है तथा अन्य घटनाओं की पुष्टि भी तत्कालीन शिलालेखों आदि से की है।

(2) तिथि सम्बन्धी मत - रासो में उल्लिखित तिथि सम्बन्धी भ्रांतियों को दूर करने के लिये पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या ने रासो की ही एक पंक्ति 'एकादस सै पंचदह विक्रम साक अनंद' के आधार पर एक 'अनन्द संवत्' की कल्पना की है। उन्होंने अनन्द संवत् का तात्पर्य, अ=शून्य तथा नन्द=9 (नौ) अर्थात् 90 वर्ष रहित विक्रम संवत् बतलाते हुए कहा है कि विक्रम संवत् में से 90-91 वर्ष घटा देने पर रासो की तिथियों की गणना ठीक हो जायेगी। पांड्या जी का मत है कि समर सिंह के पट्टे-परवानों में भी 'अनंद संवत्' का प्रयोग मिलता है।

इस प्रकार 'अनन्द संवत्' को प्रामाणिक मानते हुए यदि हम तिथियों का निर्धारण करें तो रासो की तिथि सम्बन्धी प्रायः सभी भ्रांतियाँ दूर हो जायेंगी।

(3) भाषा सम्बन्धी मत - रासो में आये हुए भाषा के विभिन्न प्रयोगों को देखकर विद्वानों ने इसकी प्रामाणिकता पर संदेह व्यक्त किया है, परन्तु मिश्रबन्धुओं एवं डॉ. श्यामसुन्दर दास ने अपना तर्क देते हुए रासो की भाषा को प्रामाणिक माना है। उनका तर्क है कि -

शहाबुद्दीन गोरी से लगभग पौने दो सौ वर्ष पूर्व महमूद गजनवी भारत में लूट-मार करने आ चुका था। गजनवी से भी तीन सौ वर्ष पूर्व सिंध और मुल्तान में मुसलमानों का अधिकार हो चुका था। चन्दरवरदायी लाहौर के रहने वाले थे अतः उस समय बोलचाल में अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग होने लगा होगा। द्वितीयतः रासो का अधिकांश भाग प्रक्षिप्त भी है और प्रक्षिप्त अंशों में अरबी-फारसी के शब्दों की बहुलता का होना स्वाभाविक ही है।

जहाँ तक रासो में भाषा की अनेक रूपता की बात है, तो इसके लिये कवि चन्द ने ही कह दिया है कि - 'षट्-भाषा पुराणं च, कुराणं कथित मया' अर्थात् मैंने प्राचीन षट्-भाषाओं और कुरान अर्थात् यवन भाषा में वर्णन किया है। अतएव रासो में विभिन्न भाषाओं का सम्मिश्रण होना नितान्त स्वाभाविक है।

(4) कवि सम्बन्धी प्रामाणिकता - रासो को प्रामाणिक सिद्ध करने वाले विद्वानों की राय है कि जिस 'पृथ्वीराज विजय' ग्रन्थ के आधार पर कवि चन्द को पृथ्वीराज का समकालीन होना नहीं माना जाता है, वह ग्रंथ ही अभी पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं है।

'पृथ्वीराज विजय' में कवि चन्द का नामोल्लेख न होने का कारण बतलाते हुए आचार्य शुक्ल ने कहा है कि हो सकता है कि कवि चन्द जयानक के आगमन के उपरान्त आया हो।

कविराज मोहन सिंह ने कवि चन्द का पूरा नाम 'पृथ्वीराज' या 'पृथ्वी भट्ट' होना बतलाया है, क्योंकि रासो में पृथ्वी कवि नाम आया है। 'पृथ्वीराज विजय' में भी 'पृथ्वी भट्ट' नाम का उल्लेख हुआ है। अतः यही 'पृथ्वी भट्ट', पृथ्वी चन्द हो सकता है जिसने बाद में अपना संक्षिप्त नाम 'चन्द' रख लिया होगा।

सारांशतः हम यही कह सकते हैं कि जब तक रासो की प्रामाणिक प्रति प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक इसकी प्रामाणिकता अप्रामाणिकता का विवाद चलता ही रहेगा। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "इस काल की कुछ रचनाएँ ऐसी भी हैं, जिन्हें हम अर्द्ध-प्रामाणिक कह सकते हैं। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रसिद्ध ग्रंथ 'पृथ्वीराज रासो' है। रासो की घटनाओं को ऐतिहासिक सिद्ध करना व्यर्थ है। इसका अपना महत्त्व है।" अतः अच्छा यही होगा कि हम सारे विवादों को छोड़ इस महाकाव्य की साहित्यिक गरिमा एवं उसके काव्य-सौष्ठव का रसास्वादन कर उसे हिन्दी की धरोहर सम्पत्ति समझें।

प्रश्न 8. 'रासो' शब्द की उत्पत्ति सम्बन्धी विभिन्न विद्वानों के विचारों को स्पष्ट करें।

उत्तर - साधारणतः आदिकालीन वीरगाथात्मक रचनाओं को 'रासो' कहा गया है। परन्तु इस 'रासो' शब्द का प्रयोग किस अर्थ में किया जाय, इस पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। अब तक 'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति को लेकर विद्वानों ने जो मत अभिव्यक्त किये हैं, वे इस प्रकार हैं -

(1) राजसूय सम्बन्धी मत - प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान एवं हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रथम लेखक गार्सा-द-तासी ने 'रासो' शब्द की उत्पत्ति 'राजसू' या 'राजसूय' शब्द से मानी है। उन्होंने 'रासो' ग्रन्थों में उल्लिखित राजसूय यज्ञ के आधार पर अपने तर्क को प्रमाणित किया है। परन्तु सभी 'रासो' ग्रन्थों में राजसूय यज्ञ की व्यवस्था नहीं मिलती, जैसे - बीसलदेव रासो।

(2) रहस्य सम्बन्धी मत - कविराज श्यामलदास तथा सर्वश्री काशी प्रसाद जायसवाल ने 'रासो' शब्द का विकास रहस्य से माना है। उनके मत को 'हिन्दी-शब्द-सागर' के सम्पादकों ने भी स्वीकार किया है।

(3) रसायण सम्बन्धी मत - इस मत के पुष्टिकर्ता आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हैं। उनके अनुसार - "कुछ लोग इस शब्द का संबंध 'रहस्य' से बतलाते हैं। पर 'वीसलदेव रासो' में काव्य के अर्थ में 'रसायण' शब्द बार-बार आया है। अतः हमारी समझ में इसी 'रसायण' शब्द से होते-होते 'रासो' हो गया है।"

(4) रास सम्बन्धी मत - काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

'पृथ्वीराज रासो' की भूमिका में 'रासो' शब्द की उत्पत्ति 'रास' से मानी गयी है। डॉ. दशरथ शर्मा ने भी 'रासो' की उत्पत्ति 'रास' से ही मानते हुए लिखा है - "रासो मूलतः गानयुक्त-नृत्य विशेष से क्रमशः विकसित होते-होते उपरूपक और फिर उपरूपक से वीर रस के पद्यात्मक प्रबन्धों में परिणत हो गया है। उक्त गानयुक्त नृत्य-विशेष से तात्पर्य 'रास' से है। 'रास' ब्रज प्रांत का महत्त्वपूर्ण अभिनय है।"

(5) रासक सम्बन्धी मत - डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'रासो' शब्द का विकास संस्कृत के 'रासक' शब्द से स्वीकार किया है। उनके अनुसार - "पृथ्वीराज रासो चरित काव्य तो हैं ही, वह रासो या रासक भी है।... जिस प्रकार 'विलास' नाम देकर चरित काव्य लिखे गये, 'रूपक' नाम देकर चरित काव्य लिखे गये, उसी प्रकार 'रासो' या 'रासक' नाम देकर भी चरित-काव्य लिखे गये।" इस प्रकार 'रासक' से ही 'रासो' शब्द बना है।

पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र भी इस मत की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार संस्कृत के 'घोटक' शब्द का ब्रजभाषा में 'घोड़ो' हो गया है, वैसे ही 'रासक' का ब्रजभाषा में 'रासो' बना होगा।

पं. चन्द्रबली पाण्डेय भी 'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति 'रासक' शब्द से ही मानते हैं।

(6) राजयश सम्बन्धी मत - पं. हरप्रसाद शास्त्री एवं श्री विंध्येश्वरी प्रसाद पाठक ने 'रासो' शब्द का विकास 'राजयश' से माना है। उनके अनुसार 'राजयश' का अपभ्रंश रूप 'रायसा' हुआ होगा और उसी 'रायसा' से 'रासो' शब्द बना है।

इस प्रकार कुछ विद्वानों ने 'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति 'रासा' एवं 'रसिक' शब्द से भी मानी है।

परन्तु विभिन्न मतों के अध्ययन के पश्चात् पता चलता है कि न तो 'रासो' शब्द 'राजसूय' से निकला है, न यह 'रहस्य' का अपभ्रंश है, न इसका विकास 'रसायण' से हुआ है, न इसे 'रास' से विकसित मान सकते हैं, और न यह 'राजयश' का अपभ्रंश रूप है, अपितु यह 'रासो' शब्द संस्कृत के 'रासक' शब्द से ही बना है, क्योंकि इसका ज्वलंत प्रमाण अब्दुर्रहमान कृत 'संदेश रासक' है। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से भी 'रासक' शब्द से ही 'रासो' की व्युत्पत्ति सत्य जान पड़ती है। डॉ. शम्भुनाथ पाण्डेय के अनुसार - "वस्तुतः ध्वनि प्रक्रिया के अनुसार इसका विकास 'रास' और इसमें 'क' स्वार्थिक प्रत्यय जोड़कर

'रासक' से ही दिखाया जा सकता है तथा 'रासक' से 'राय', 'रासउ' फिर इससे रासो बना है।''

अतः 'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति 'रासक' से ही मानना सर्वथा समीचीन है।

प्रश्न 9. हिन्दी साहित्य के आदिकाल की प्रमुख प्रवृत्तियाँ एवं विशेषताओं का विवेचन करें।

उत्तर - हिन्दी साहित्य का आरम्भिक काल विवादास्पद होते हुए भी साहित्यिक वैभव से सम्पन्न काल रहा है। केवल साहित्य ही नहीं, अपितु भाषा की दृष्टि से भी यह युग बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। आदिकाल में जिन विविध विचारों एवं छन्दों तथा अलंकारों का बीज-वपन हुआ उसी को हम भक्ति एवं श्रृंगार काल तक पुष्पित एवं पल्लवित होते हुए देखते हैं। अतः आदिकाल वह मजबूत साहित्यिक आधारशिला है जिस पर हिन्दी साहित्य की भावी अट्टालिका अपनी साहित्यिक वैभव की गरिमा से महिमामंडित है। अतः इस मजबूत आधारशिला को देखते हुए इसकी निम्नलिखित विशेषतायें दृष्टिगोचर होती हैं -

(1) आश्रयदाताओं की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा - इस युग के वीर-काव्य-प्रणेताओं ने अपने-अपने आश्रयदाता राजाओं की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा की है। उदाहरणार्थ, कविवर चन्दवरदायी ने महाराज पृथ्वीराज की, जनकवि जगनिक ने राजा परमार्दिदेव की, भट्ट केदार और मधुकर भट्ट ने जयचन्द की एवं कवि नरपति नाल्ह ने राजा वीसलदेव की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। इन कवियों ने अपने-अपने राजाओं को सर्वश्रेष्ठ वीर, शरणागत वत्सल एवं अद्‌भुत दानवीर सिद्ध किया है। अपने अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों द्वारा ये कवि-गण अपने-अपने राजाओं के हृदय में अद्‌भुत वीरता का संचार करते रहे। यद्यपि इनकी उक्तियाँ अतिशयोक्तिपूर्ण होती थीं तथापि उक्त राजा को अपने कर्त्तव्य मार्ग पर अग्रसरित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती थीं।

(2) राष्ट्रीय भावना का संकुचित रूप - वीरगाथा कालीन कवि अपने आश्रयदाता राजा को ही सर्वश्रेष्ठ समझते रहे, अतः इन कवियों की राष्ट्रीय भावना केवल अपने राजा के राज्य तक ही सीमित रही। ये कविगण विदेशी आक्रामकों को तो शत्रु समझते ही थे, अपने राजा के विरोधी भारतीय राजाओं को भी उतना ही शत्रु समझते थे। वे अपने आश्रयदाता राजा के राज्य को ही राष्ट्र समझते थे। यही कारण है कि उस समय की रचनाओं में विदेशियों का मुकाबला करने के लिये सामूहिक ललकार नहीं सुनाई पड़ती। सभी भारतीय राजाओं को संगठित कर, विदेशी आक्रामकों का मुकाबला करने की व्यापक राष्ट्रीयता की अनुगूंज इनकी रचनाओं में नहीं मिलती।

इस प्रकार उस काल की रचनाओं में व्यापक राष्ट्रीय चेतना का सर्वथा अभाव पाया जाता है। आगे चलकर श्रृंगार काल में भूषण आदि की रचनाओं में यह राष्ट्रीय भावना पूर्ण रूप से व्यापक हो उठी है।

(3) युद्धों का सजीव वर्णन - आदिकालीन कविगण केवल कलम के ही सिपाही नहीं थे, बल्कि वे स्वयं युद्ध क्षेत्र में जाकर अपनी रक्त रंजित तलवार से अपनी वीरता की कहानी लिखा करते थे। चन्दवरदायी के सम्बन्ध में यह बात अधिक प्रसिद्ध है। युद्ध का स्वयं अनुभव रहने के कारण ये युद्धों का अत्यन्त सुन्दर, सजीव एवं प्रभावशाली वर्णन किया करते थे। अपने प्रतिभाशाली व्यक्तित्व के कारण ये कविगण युद्धों का सजीव चित्रण कर राजाओं की धमनियों में उष्ण रक्त की धारा प्रवाहित कर देते थे, फलस्वरूप ये राजागण अपनी जान को हथेली पर रख युद्ध को उद्यत हो जाते थे।

(4) वीर और श्रृंगार का समन्वय - इस युग की कविता-कामिनी जहाँ वीरता के खड्ग लिए रण-चण्डी-सा हुंकार करती रही वहीं श्रृंगारिकता के विलासी लिबास से आवेष्ठित हो चूड़ियाँ भी खनकाती रही। जब विदेशी आक्रामकों से लोहा लेने के लिये राजा चलते थे तो उनके कवि वीर रस की उद्दाम धारा प्रवाहित करने लगते और वही राजा जब किसी देशी राजकुमारी के प्रेम में दीवाने बन जाते तो कवि अपनी लेखनी द्वारा श्रृंगार रस की मधुर स्रोत-स्विनी प्रवाहित करने लगते। फलस्वरूप इस युग में श्रृंगार और वीर रस का अद्भुत समन्वय पाया जाता है। जनकवि जगनिक की ये उक्तियाँ किसके रोंगटे खड़ी नहीं कर देंगी -

बारह बरस लौं कूकर जीएँ, और तेरह लैं जिएँ सियार।
बरिस अठारह छत्री जीएँ, आगे जीवन को धिक्कार।

'आल्हा' के नाम से यह गीत काफी प्रसिद्ध है।

(5) इतिहास की अवहेलना - इस युग के कवियों ने अपने आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा इतनी तल्लीनता से की है कि उन्हें इतिहास एवं समय का ध्यान ही नहीं रहा। इतिहास की इसी अवहेलना के कारण आलोचकों ने इनके ग्रंथों को अप्रामाणिक एवं जाली - करार दिया है। बहुत-सी ऐतिहासिक भ्रांतियाँ तो अब दूर हो चुकी हैं, परन्तु अभी भी कुछ ज्यों-की-त्यों हैं।

(6) लोक जीवन की अवहेलना - आदिकालीन कविगण अपने आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा कर वाहवाही लूटते रहे, फलस्वरूप लोक जीवन उनकी दृष्टि से सर्वथा उपेक्षित रहा। स्वयं इन राज्याश्रित कवियों के राजागण भी तो

युद्ध में ही लिप्त रहा करते थे, अतः इन्हें लोक़ जीवन की तरफ देखने की फुरसत ही कहाँ थी। इसीलिये उस युग के कवियों की रचनाओं में भी लोक-मंगल की सर्वथा उपेक्षा पायी जाती है।

(7) भाषा के विविध रूप - आदिकालीन भाषा के विविध रूपों को देखते हुए आचार्य शुक्ल ने कहा है - "कहीं-कहीं तो भाषा आधुनिक साँचे में ढली सी दिखाई पड़ती है, क्रियाएँ नए रूपों में मिलती हैं। पर साथ ही कहीं-कहीं भाषा अपने असली प्राचीन साहित्यिक रूप में भी पायी जाती है जिसमें प्राकृत और अपभ्रंश शब्दों के साथ-साथ शब्दों के रूप और विभक्तियों के चिह्न पुराने ढंग के हैं।"

सारांशतः उस युग के ग्रंथों में हम संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और ब्रजभाषा के शब्दों के प्रयोग तो देखते ही हैं, कहीं-कहीं अरबी एवं फारसी के शब्द-प्रयोग भी मिल जाते हैं। 'रासो' ग्रंथों में आये इन भाषा प्रयोगों को डिंगल एवं पिंगल कहा जाता है।

(8) छन्दों के विविध रूप - आदिकालीन साहित्य में छन्दों के विविध प्रयोग देखने को मिलते हैं। भावों के अनुसार छन्दों का प्रयोग इस युग की प्रमुख विशेषता रही है। दोहा (दूहा) इस युग का प्रमुख छन्द रहा है। दोहे के अतिरिक्त सोरठा, चौपाई, गाहा, छप्पय, अरिल्ला, द्विपदी या दुवई, त्रोटक, आर्या, रोला, चर्चरी, घनाक्षरी, सवैया आदि इस युग के प्रमुख छन्द रहे हैं। पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में - "रासो के छन्द जब बदलते हैं तो श्रोता के चित्त में प्रसंगानुकूल नवीन कम्पन उत्पन्न करते हैं।"

(9) साहित्यिक प्रवृत्तियों के दो रूप - डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार इस युग में दो प्रकार की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं एक पश्चिमी अपभ्रंश एवं दूसरे पूर्वी अपभ्रंश की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ। राज्यस्तुति, शृंगारी काव्य एवं लोक प्रचलित कथानकों का विकास पश्चिमी अपभ्रंश से हुआ तथा निर्गुणिया सन्तों की भक्तिपरक रचनाओं का विकास पूर्वी अपभ्रंश से हुआ।

(10) प्रकृति-चित्रण - इस युग के कवियों ने आलम्बन एवं उद्दीपन दोनों रूपों में प्रकृति का चित्रण किया है। उद्दीपन रूप में प्रकृति-वर्णन अपेक्षतया अधिक सफलता के साथ किया गया है।

इस प्रकार आदिकाल की साहित्यिक विशेषताओं को देखते हुए इसके महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। डॉ. त्रिभुवन सिंह के शब्दों में - "इस युग के साहित्य का महत्त्व साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से कम एवं भाषा विकास के अध्ययन की दृष्टि से अधिक है।" आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने

भी कहा है - "इन ग्रंथों का महत्त्व इतना ही है कि इन्होंने हमारे साहित्य के आदि भाग का निर्माण एवं भविष्य की रचनाओं के लिये मार्ग निर्देश किया है।"

प्रश्न 10. निम्नलिखित कवियों का संक्षिप्त जीवन परिचय प्रस्तुत कीजिए। अथवा निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए - चन्दवरदायी, अमीर खुसरो, विद्यापति।

उत्तर - चन्दवरदायी - चन्दवरदायी हिन्दी के प्रथम महाकवि माने जाते हैं। इनका मूल नाम चन्द बलिद्दय था। 'वरदायी' शब्द बलिद्दय का सरल रूप है। चन्द का जन्म सन् 1148 ई. में लाहौर में हुआ था। परम्परागत प्रसिद्धि एवं 'पृथ्वीराज रासो' के आधार पर चन्दवरदायी और पृथ्वीराज दोनों का जन्म एक ही दिन हुआ माना जाता है। बचपन और जवानी में दोनों एक ही साथ रहे थे और दोनों की मृत्यु भी एक ही साथ हुई। ये महाराज पृथ्वीराज चौहान के राजकवि थे।

महाराज पृथ्वीराज की प्रशंसा एवं उनके युद्ध कौशल आदि के विषय में चन्दवरदायी ने 'पृथ्वीराज रासो' नामक महाकाव्य की रचना की थी। 'पृथ्वीराज रासो' ढाई हजार पृष्ठों का बहुत बड़ा ग्रंथ है जिसमें 69 समय (सर्ग या अध्याय) हैं। इस ग्रंथ में प्राचीन सभी परंपरागत छंदों जैसे - कवित्त, दूहा, तोमर, त्रोटक, गाहा, आर्या आदि का प्रयोग हुआ है।

रासो का उत्तरार्द्ध भाग चन्द के पुत्र जल्हण द्वारा पूर्ण किया जाना कहा जाता है। रासो के अनुसार जब शहाबुद्दीन गोरी पृथ्वीराज को कैद करके गजनी ले गया तो उनके साथ कवि चन्द भी रासो की पुस्तक को जल्हण के हाथों देकर गजनी चले गये। इस सम्बन्ध में रासो में उल्लिखित है -

पुस्तक जल्हन हत्थ दै चलि गज्जन नृप काज।
रघुनाथ चरित हनुमंत कृत भूप भोज उद्धरिय जिमि।
पृथ्वीराज सुजस कवि चंद कृत चंदनंद उद्धरिय तिमि।

'पृथ्वीराज रासो' में चौहान क्षत्रियों की उत्पत्ति एवं उनके विभिन्न कुलों का विशद वर्णन है। पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता पर यद्यपि संदेह किया जाता है तथापि भाषा भाव, छन्द आदि की दृष्टि से यह एक उत्कृष्ट कोटि का ग्रंथ है।

अमीर खुसरो - अमीर खुसरो का जन्म सन् 1254 ई. में उत्तर प्रदेश के एटा जिला के अंतर्गत पटियाली ग्राम में हुआ था। इनका वास्तविक नाम अबुल हसन था। इनके पिता का नाम सैफुद्दीन था जो चंगेज खां के आक्रमण से

पीड़ित हो मध्य एशिया से भारत आ बसे थे। लम्बी आयु प्राप्त होने के कारण इन्होंने गयासुद्दीन बलबन से लेकर अलाउद्दीन और कुतुबुद्दीन मुबारक शाह तक कई पठान बादशाहों का जमाना देखा था। इन्हें फारसी का अच्छा ज्ञान था एवं इनमें अद्‌भुत कवित्व प्रतिभा थी। इनकी मृत्यु सन् 1325 ई. में हुई।

फारसी के विद्वान होते हुए भी खुसरो हिन्दी के अच्छे जानकार थे। इन्होंने हिन्दी में गजल, पहेलियाँ, मुकरियाँ, दोसखुने, गीत और दोहे आदि की रचना की। इनकी भाषा लोक-भाषा के काफी नजदीक एवं सरल है। जिस प्रकार खुसरो स्वभावगत मिलनसार, सरल, विनोदी एवं सहृदय थे उसी प्रकार इनकी रचनाओं में भी सरलता, हास्य एवं सहृदयता की तरलता वर्तमान है। जन जीवन का हृदयोद्‌गार ही इनकी वाणी के रूप में प्रस्फुटित हो गया है। इनकी भाषा में ब्रजभाषा के रूप तो हैं ही खड़ी बोली के शब्दों की भी कमी नहीं है। इनके कतिपय उदाहरण ये हैं -

पहेली - श्याम बरन औ दाँत अनेक, लचकत जैसी नारी।।
दोनों हाथ से खुसरो खींचे और कहे तू आ री।। (आरी)
एक थाल मोती से भरा। सबके सिर पै औंधा धरा।।
चारों ओर वह थाली फिरे। मोती उससे एक न गिरे।।
(आकाश)
एक नार ने अचरज किया। साँप मारि पिंजड़े में दिया।।
ज्यों ज्यों साँप ताल को खाए। सूखे ताल साँप मरि जाए।।
(दिया बत्ती)

खुसरो खड़ी बोली के प्रथम प्रयोक्ता माने जाते हैं।

विद्यापति - मैथिल कोकिल कविवर विद्यापति का जन्म दरभंगा के विसपी नामक ग्राम में सन् 1380 ई. में हुआ था। इनके पिता का नाम गणपति ठाकुर था जो संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे। ये राजा गणेश्वर के दरबारी कवि थे। बचपन से ही विद्यापति अपने पिता के साथ राजा गणेश्वर के दरबार में आया जाया करते थे। युवावस्था में विद्यापति भी राजा कीर्ति सिंह के दरबारी कवि हुए। कीर्ति सिंह के पश्चात् के विभिन्न राजाओं देव सिंह, शिव सिंह आदि से ये सम्बद्ध रहे। राजदरबार में विद्यापति को विशेष ख्याति प्राप्त हुई एवं उन्हें विभिन्न उपाधियों से विभूषित किया गया। उनकी मृत्यु 1460 ई. के लगभग हुई।

विद्यापति के धर्म, सम्प्रदाय के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कोई

इन्हें शैव मानता है तो कोई शाक्त, कोई वैष्णव मानता है तो कोई पंचदेवोपासक। इन सभी विवादों के अतिरिक्त वे एक कवि थे एवं उन्हें जब जिस देव के प्रति भक्ति भावना जागी उसके प्रति उन्होंने कविता रच डाली। सभी देवताओं के प्रति उनके हृदय में भक्ति भावना थी।

उनकी रचनाएँ तीन भाषाओं में पायी जाती हैं - संस्कृत, अवहट्ट एवं हिन्दी।

संस्कृत - भूपरिक्रमा आदि कुल ग्यारह रचनाएँ। **अवहट्ट** - कीर्तिलता और कीर्ति पताका। **हिन्दी** - पदावली।

हिन्दी जगत में विद्यापति की लोकप्रियता की प्राप्ति का कारण उनकी पदावली है। पदावली के पद एवं गीत से वहाँ की धरती की सोंधी गंध निकलती है। उनके शृंगारिक एवं भक्तिपरक गीत केवल मिथिलांचल के लोगों को ही आत्मविभोर नहीं करते वरन् समस्त उत्तरी भारत के लोगों के हृदय को अपनी सरसता से आप्लावित कर देते हैं। पदावली लोकगीतों से युक्त है।

विद्यापति को भक्त माना जाय या शृंगारी कवि, यह आज तक एक विवाद का विषय बना हुआ है। परन्तु अधिकांशतः मत उनके शृंगारी होने के पक्ष में ही हैं। उनके भक्ति सम्बन्धी पदों में भी शृंगारिकता की ही गंध मिलती है। डॉ. राम कुमार वर्मा के शब्दों में - "विद्यापति के इस बाह्य संसार में भगवद् भजन कहाँ, इस वयः सन्धि में ईश्वर से सन्धि कहाँ, सद्यःस्नाता में ईश्वर से नाता कहाँ, और अभिसार में भक्ति का सार कहाँ। उनकी कविता विलास की सामग्री है, उपासना की साधना नहीं।" अतः वास्तव में विद्यापति मूलतः एक शृंगारी कवि हैं।

शृंगार के अन्तर्गत उन्होंने विप्रलंभ एवं संयोग शृंगार का बहुत हृदयस्पर्शी वर्णन किया है। उनकी भाषा शैली बिल्कुल सरल, मार्मिक एवं बोधगम्य है। लोक जीवन एवं लोक संस्कार से युक्त उनके गीतों की भाषा में माधुर्य का प्रभाव अधिक है।

-: स्मरणार्थ :-

प्रमुख कवि एवं काव्य

अपभ्रंश की रचनाएँ -

कवि	रचनायें
नल्ह सिंह-	विजयपाल रासो,
शार्गधर-	हम्मीर रासो,
विद्यापति-	कीर्तिलता एवं कीर्तिपताका।

डिंगल की रचनाएँ (हिन्दी रचनाएँ) -

दलपति विजय-	खुमान रासो,
नरपति नाल्ह-	वीसलदेव रासो,
जगनिक-	परमाल रासो (आल्ह खंड)
मधुकर-	जयमयंकजस चन्द्रिका,
भट्ट केदार-	जयचन्द्र प्रकाश।

परम्परा मुक्त कवि-

अमीर खुसरो-	मुकरी, पहेलियाँ, दोहे आदि,
विद्यापति-	पदावली।

इस काल के विभिन्न नाम-

(1)	चारण काल-	जॉर्ज ग्रियर्सन।
(2)	आरम्भिक काल-	मिश्र बन्धु।
(3)	वीज-वपन काल-	आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी।
(4)	वीरगाथा काल-	पं. रामचन्द्र शुक्ल।
(5)	सिद्ध-सामन्त युग-	पं. राहुल सांकृत्यायन।
(6)	आदिकाल-	डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी।
(7)	चारण काल-	डॉ. रामकुमार वर्मा।

हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास लेखक- फ्रांसीसी विद्वान गार्सा-द-तासी।
वीरगाथा काल का प्रारम्भ - ग्यारहवीं सदी से।

भक्तिकाल

(सं. 1375-1700 तक)

प्रश्न 11. भक्तिकाल की तत्कालीन परिस्थितियों का विवेचन करें।

उत्तर - हिन्दी साहित्य का आदिकाल एक तरह से संघर्ष का काल रहा। तलवारों की खनखनाहट के बीच कविता की ओजस्वी भाषा वीरों के हृदय में साहस का संचार करती रही, परन्तु इन सारे प्रयत्नों के बावजूद चौदहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में, मुस्लिम आक्रामकों ने दिल्ली में अपने साम्राज्य की स्थायी नींव डाल ही दी। भारत में मुस्लिम सल्तनत के स्थायित्व के परिणामस्वरूप देश की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। यहाँ संक्षेप में इन परिस्थितियों की विवेचना की जायेगी।

(क) राजनीतिक परिस्थिति - राजनीतिक दृष्टि से भक्तिकाल को दो भागों में बाँटा जा सकता है। (क) सं. 1377 से 1583 तक और (ख) सं. 1583 से 1700 तक। तुगलक और लोदी वंश के शासकों ने प्रथम भाग में और बाबर, हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर तथा शाहजहाँ ने द्वितीय भाग में राज्य किया। अब मुसलमान यहाँ आकर अपने हाथ में सत्ता की बागडोर पूर्णतः संभाल लिया था। देशी शासक देश की रक्षा कर पाने में पूर्णतः असमर्थ सिद्ध हो चुके थे। उनके सामने ही उनके मंदिर तोड़े जाते थे, मूर्तियाँ गिराई जाती थीं। छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्यों का अस्तित्व भी समाप्त हो चला था। ऐसी स्थिति में न तो देशी दरबार रहे और न उनमें खड़े होकर वीरता के गीत गाने वाले वीर रस के कवि।

हिन्दू अपने ही घरों में विदेशियों द्वारा सताये जाने लगे। उन पर जजिया कर का बोझ लादा गया। यद्यपि राजपूत, जाट, मराठे उनसे अंतिम सांस तक लोहा लेते रहे परन्तु मुसलमानों के तोप और विशाल सेना के सामने वे टिक नहीं पाये। बाबर के हाथों राणा साँगा की पराजय के बाद राजपूतों की आँखें खुलीं, परन्तु उस समय वे कर ही क्या सकते थे।

बाबर के बाद हुमायूँ दिल्ली के तख्त पर बैठा। हुमायूँ और शेरशाह के बीच युद्ध हुआ जिसमें हुमायूँ शेरशाह से पराजित होकर भागा। शेरशाह के शासन काल में जनता सुखी रही। शेरशाह के बाद पुनः हुमायूँ के हाथ में शासन की बागडोर आयी परन्तु 1556 ई. में वह महल की सीढ़ी से गिरकर एक दिन अचानक ही चल बसा। अतः उसके शासन काल में भी प्रजा की कोई खास भलाई न हो सकी और न साहित्य एवं कला के क्षेत्र में ही कोई विकास

हो सका। हुमायूँ के बाद अकबर के सिंहासनारूढ़ होने के बाद साहित्य, संगीत एवं कला का काफी विकास हुआ। अकबर के समय में ही विशाल साहित्यिक रचनाएँ होने लगी थीं क्योंकि वह युग अपेक्षतया शांति का युग रहा।

(ख) सामाजिक परिस्थिति - सामयिक राजनीतिक परिस्थिति से सामाजिक स्थिति प्रभावित होती है। भारत में मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना हो जाने के कारण अब हिन्दू अपने हिन्दुत्व की रक्षा के प्रति अधिक सजग हो उठे थे। वे अपने सामाजिक बन्धनों को कठोर बनाने लगे ताकि मुसलमान उनपर सामाजिक क्षेत्र में हावी न हो सकें। इसलिये उनमें शुद्ध धार्मिक-भावना की जगह सामाजिक संकीर्णता बढ़ती चली गयी। जाति-पाँति, छुआ-छूत आदि की भावना जोर पकड़ने लगी। संत-साहित्य में इन सामाजिक संकीर्णताओं के प्रति विरोध के स्वर अधिक मुखरित हुए हैं।

इस समय कुछ उदारवादी मुस्लिम संत भी अपने पैर जमा चुके थे। वे सूफी कहे जाते थे। इन सूफी संतों ने हिन्दू लोक-मानस को नजदीक से परखा और तदनुरूप साहित्य लिखना शुरू किया। हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करने में इन सूफी संतों का बहुत ही महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

(ग) धार्मिक परिस्थिति - धार्मिक दृष्टि से यह युग बहुत ही सम्पन्न रहा। आदिकाल में भक्ति की जो सरिता तन्वंगी होने लगी थी, भक्तिकाल में आते-आते अब वह काफी प्रसार पाने लगी थी। भारतीय जनता ने देख लिया था कि उसके स्वत्व की रक्षा न तो उसके पुरुषार्थ ही कर सके, न उसके धर्म ही। ऐसी स्थिति में उनका झुकाव सिद्ध-नाथ योगियों की तरफ होने लगा। परन्तु इन योगियों के तंत्र-मंत्र का प्रभाव उन्हीं लोगों पर पड़ा जो अशिक्षित एवं अर्द्ध-शिक्षित थे। उन लोगों पर इसका प्रभाव नहीं पड़ा जो शास्त्र-पुराण में सनातन विश्वास रखते आ रहे थे।

इस प्रकार धर्म के क्षेत्र में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ पनपीं - एक रूढ़ि विरोधी और दूसरी परम्परा की समर्थक। बौद्ध धर्म की जो प्राणधारा शेष रह गयी थी, वह रूढ़ि विरोधिनी थी और उभरते हुए भागवत् धर्म परम्परा की अनुमोदक। इसी समय बाहर से मुसलमान आये और उनके साथ इस्लाम एवं सूफी विचारधारा आयी। इनके सम्मिश्रण से निर्गुणिया विचारधारा और सूफी प्रेमाख्यानक-काव्य का विस्तार हुआ। परन्तु जिस ज्ञानाश्रयी एवं प्रेमाश्रयी भक्ति शाखा का विस्तार हम भक्ति युग में देखते हैं उसका वीज-वपन क्रमशः संत नामदेव आदि तथा आदिकालीन सूफी कवि मुल्लादाउद की रचनाओं में पहले ही हो चुका था।

इसी प्रकार भक्तिकाल की रामभक्ति एवं कृष्णभक्ति शाखाओं पर क्रमशः रामानुजाचार्य एवं बल्लभाचार्य की भक्ति-भावना के स्पष्ट प्रभाव लक्षित होते हैं।

(घ) साहित्यिक परिस्थिति - साहित्य समाज का दर्पण होता है। आदिकाल में निरन्तर विदेशियों के आक्रमण एवं देशी राजाओं की वीरता प्रदर्शन के कारण वीरगाथात्मक साहित्य रचे गये। परन्तु भक्तिकाल में आते-आते राजपूतों की शक्ति इतनी क्षीण एवं जर्जर हो गयी कि अब न तो राज दरबार रहे, न राजकवि। फलतः साहित्यरथियों ने परम्परागत भारतीय धार्मिक-भावना को ही विशद रूप देते हुए नये सिरे से उसकी व्याख्या आरंभ कर दी। परिणामस्वरूप भक्तिपरक रचनाओं की बहुलता होने लगी।

यद्यपि इस युग में भक्तिपरक रचनाओं की बहुलता है, फिर भी उसमें तत्कालीन अत्याचारी शासकों के प्रति घृणा के स्वर भी मुखरित हैं। तुलसीदास ने - 'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नर अवसि नरक अधिकारी'- लिखकर तत्कालीन सम्राट् पर आक्रोश ही व्यक्त किया है। साहित्यिक दृष्टि से वैभव-संपन्न देखते हुए ही डॉ. श्यामसुन्दर दास ने भक्तिकाल को 'स्वर्ण युग' कहा है।

इस प्रकार विदेशी मुगल शासकों से प्रभावित रहने के बाद भी यह युग साहित्यिक गौरव-गरिमा से अभिमंडित रहा है।

प्रश्न 12. भक्तिकाल के प्रेरणा स्रोतों पर प्रकाश डालें।

अथवा

प्रश्न 13. भक्तिकाल का आविर्भाव कैसे हुआ ? स्पष्ट करें।

अथवा

प्रश्न 14. भक्तिकाल की प्रेरक परिस्थितियों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर - हिन्दी साहित्य के पूर्व-मध्यकाल अर्थात् पन्द्रहवीं शताब्दी में भक्ति-रस के उमड़ते हुए अगाध सागर को देखकर बहुत से विद्वान चमत्कृत हो उठे। परिणामस्वरूप वे इसके उद्गम स्रोत का पता लगाने के लिये भगीरथ प्रयत्न करने लगे। अपने इस प्रयत्न में बहुत से विद्वान तो सफल रहे, परन्तु बहुतेरे अपने मार्ग से भटक कर भ्रांतियों के शिकार हो गये। पाश्चात्य विद्वानों के भटकने का कारण उनका पूर्वाग्रह था जिसके कारण वे असलियत की खोज न कर सके, परन्तु भारतीय विद्वान आचार्य शुक्ल जी तथ्य के बहुत करीब पहुँचकर भी भटक गये थे।

यहाँ भक्तिकाल के प्रेरणा-स्रोतों पर विभिन्न विद्वानों के विचारों को देखते हुए उसकी सत्यशः परीक्षा करेंगे-

(1) पाश्चात्य विद्वानों के मत - पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन ईसाई धर्म की देन है। भक्ति आंदोलन पर ईसाइयत की छाप मानने वाले इन विद्वानों में वेवर, कीथ, विल्सन और जार्ज ग्रियर्सन प्रमुख हैं। ग्रियर्सन के मतानुसार दूसरी तीसरी शताब्दी में कुछ ईसाई मद्रास में आकर बस गये और उनसे भारतीय धर्म में भक्ति की उद्‌भावना हुई। परन्तु ग्रियर्सन साहब के इस मत के समर्थन में कोई वजन नहीं है। विभिन्न भारतीय विद्वानों ने भक्ति आंदोलन को विशुद्ध भारतीय प्रतिक्रिया बतलाया है।

(2) आचार्य शुक्ल एवं बाबू गुलाब राय के मत - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और बाबू गुलाब राय ने भक्ति को हिन्दुओं की पराजय का परिणाम बतलाया है। शुक्लजी के अनुसार "अपने पौरुष से हताश जाति के लिये भगवान की भक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ?" बाबू गुलाब राय के अनुसार पराजय के बाद व्यक्ति या तो अपनी आध्यात्मिक श्रेष्ठता दिखाना चाहता है अथवा विलास में डूबकर पराजय को भूल जाना चाहता है। भक्ति-आंदोलन का स्रोत पहली मनोवृत्ति है।

परन्तु इसका तात्पर्य यह न समझना चाहिए कि एकमात्र 'अपने पौरुष से हताश' होने के परिणामस्वरूप ही भक्ति आंदोलन का जन्म हुआ। भक्ति-आंदोलन के लिये आदिकाल में ही जो पृष्ठभूमि तैयार हो गयी थी, उसे भी शुक्ल जी ने मुक्त कंठ से स्वीकार किया है। बाबू गुलाब राय ने अपनी बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "इस विवेचना का अभिप्राय यह न समझा जाय कि हिन्दी का भक्तिकाल मुसलमानों से प्रभावित है। हमारे कवियों ने सामग्री तो अपने घर से ही ली - हाँ, उनको कुछ उत्तेजना मुसलमानों से अवश्य मिली।"

(3) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भक्ति-आंदोलन पर 'ईसाइयत का प्रभाव' एवं 'पराजय की मनोवृत्ति की उपज़' वाले मत को अमान्य ठहराते हुए उसे शुद्ध भारतीय मनोवृत्ति की उपज बतलाया है। उन्होंने कहा है कि यदि मुसलमानों के अत्याचार से 'भक्ति की भावधारा' को उमड़ना था तो वह अन्य प्रांतों से पहले सिंध में विकसित होती, क्योंकि सिंध को ही मुस्लिम आक्रामकों का सामना करना पड़ा था, किन्तु हुआ यह कि भक्ति का उद्‌भव दक्षिण में हुआ और फिर वहाँ से वह उत्तर भारत की ओर प्रवाहित हुई।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के मत से आज भी विद्वान सहमत हैं। वास्तव में भारतवर्ष में वैदिक काल से ही भक्ति की धारा किसी न किसी रूप में प्रवाहित होती आयी है। कालान्तर में उसके प्रवाह में मंथरता अवश्य आयी,

और उसमें विभिन्न मत-मतान्तरों का समावेश भी हुआ, परन्तु उसकी धारा कभी सूखी नहीं। बौद्ध एवं जैन धर्म के प्रबल प्रचार स्वरूप ब्राह्मण-धर्म की आस्था अवश्य क्षीण होने लगी थी, भागवत धर्म में निष्प्राणता आने लगी थी, परन्तु केरल के शंकराचार्य ने एक बार पुनः सनातन धर्म का शंखनाद कर उसमें नवीन जीवनी शक्ति का ऐसा संचार किया कि पुनः हिन्दू धर्म की लता लहलहा उठी। फलस्वरूप बौद्ध एवं जैन धर्म को काफी आघात पहुँचा और वे तंत्र-मंत्र की आड़ लेकर अंतर्मुखी साधना में लीन हो गये। आदिकाल में सिद्ध-नाथ और जैन इन्हीं साधनों के प्रचारकर्त्ता बने।

चूँकि दक्षिण भारत आक्रामकों के आघातों से अलग शांत वातावरण की सृष्टि करता रहा, अतः भक्ति के लिये जितनी उर्वर भूमि दक्षिण भारत की थी उतनी उत्तर भारत की नहीं। यही कारण है कि इस भक्ति-आंदोलन का श्री-गणेश दक्षिण से ही हुआ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने दक्षिण के आलावार सन्तों को भक्ति की धारा को अग्रसर करने वाला कहा है। कबीर ने कहा है -

भक्ति द्राविड़ी ऊपजी लाए रामानंद।
परकट किया कबीर ने सप्तदीप नव खंड।

अतः यह सत्य है कि भक्ति-भावना दक्षिण के आलावार संतों के हृदय से निःस्तृत हो विविधमयी रूपों में प्रसार पाती हुई उत्तर भारत के श्रद्धालुओं का हृदय सींचने लगी थी। दक्षिण के रामानुजाचार्य ने जिस सगुण भक्ति धारा का प्रतिपादन किया, उस ओर जनता को आकर्षित होने में विलम्ब नहीं लगा। रामानुजाचार्य की ही शिष्य परम्परा में स्वामी रामानन्द हुए जिन्होंने विष्णु के अवतार की उपासना पर बल देकर भक्ति का मार्ग सबके लिये खोल दिया और इसी रामानन्द की भक्ति भावना से प्रभावित हो तुलसीदास ने भक्तिकाल में राम-भक्ति की अबाध सरिता प्रवाहित की। बल्लभाचार्य ने कृष्ण-भक्ति की धारा प्रवाहित कर उनके लीलास्वरूप का प्रवर्तन किया। कृष्ण-भक्ति की यह परम्परा मध्यकालीन कृष्ण-भक्ति शाखा के सूरदास एवं अष्टछाप के कवियों के बाद भी जीवित रही।

आदिकालीन सिद्ध-नाथ योगियों एवं सन्त नामदेव के निर्गुण ब्रह्म एवं योग साधना से प्रभावित हो कबीरदास ने निर्गुण ब्रह्म की परम्परा को और मजबूत किया। इसी प्रकार सूफी कवि जायसी, कुतुबन, मंझन ने भी आदिकालीन मुल्लादाउद प्रसिद्ध सूफी सन्त की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए लौकिक धरातल

पर ईश्वर की अलौकिक व्याख्या की।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति आंदोलन विशुद्ध भारतीय एवं स्वतः स्फुरित आंदोलन है। इसे न तो ईसाइयत की देन कह सकते हैं, न मुस्लिम अत्याचार का प्रतिफलन ही। इस प्रकार मुसलमान आते या न आते, भक्ति का विकास स्वाभाविक गति से होता ही, क्योंकि इसकी पृष्ठभूमि सैकड़ों वर्ष पूर्व से तैयार होती आ रही थी। आचार्य द्विवेदी जी के शब्दों में - ''भारतीय पाण्डित्य ईसा की एक सहस्त्राब्दी बाद आचार-विचार और भाषा के क्षेत्र में स्वभावतः ही लोक की ओर झुक गया था। यदि अगली शताब्दियों में भारतीय इतिहास की अत्यधिक महत्वपूर्ण घटना अर्थात् इस्लाम का प्रमुख विस्तार न भी घटी होती तो भी वह इसी रास्ते जाता।''

प्रश्न 15. भक्तिकाल को 'स्वर्णयुग' क्यों कहा जाता है ? स्पष्ट कीजिए।

अथवा

प्रश्न 16. भक्तिकाल के काव्य वैभव पर प्रकाश डालिए।

उत्तर - हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल का अन्यतम स्थान है। भक्तिकालीन काव्य पद्मावत, सूरसागर, रामचरित मानस, तथा कबीर के पदों एवं साखियों में असंख्य मणि रत्न बिखरे हुए हैं। रामचरित मानस आर्य संस्कृति का प्रकाश-स्तम्भ है। सूरसागर वात्सल्य एवं श्रृंगार रस का सागर है। पद्मावत में प्रेम का माधुर्य और कबीर के पदों में गूढ़ रहस्यात्मकता का भण्डार है। काव्य-सौष्ठव, पद-लालित्य एवं अलंकृति से परिपूर्ण भक्तिकाल निश्चय ही स्वर्णयुग की याद दिला देता है। डॉ. श्यामसुन्दर दास ने ठीक ही कहा है - ''जिस युग में कबीर, जायसी, सूर, तुलसी जैसे सुप्रसिद्ध कवियों और महात्माओं की दिव्यवाणी अंतःकरण से निकलकर देश के कोने-कोने में फैली थी, उसे साहित्य के इतिहास में सामान्यतः भक्तियुग कहते हैं। निश्चय ही वह हिन्दी साहित्य का स्वर्णयुग था।''

भक्तिकालीन कवियों ने अपनी वाणी की जो त्रिवेणी प्रवाहित की, उसमें आज तक मानव-समाज अवगाहन करता आया है। कबीर, सूर, तुलसी की कविताओं में जीवन की गहराई की स्पष्टता को देखते हुए ही किसी कवि ने कहा है -

तत्त्व-तत्त्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठी।
बची-खुची कबीरा कही, और कही सो झूठी।।

इस प्रकार भक्तिकाल का काव्य कुछ ऐसी विशेषतायें रखता है जो अन्य कालों की काव्य धारा में स्पष्ट नहीं होतीं। वे विशेषताएँ निम्नलिखित हैं -

(1) **उच्चकोटि के काव्य दर्शन**—भक्तिकाल में उच्चकोटि के काव्य दर्शन होते हैं। सूर की कविता का वैशिष्ट्य श्रृंगार और वात्सल्य के वर्णन में है। बालकों की स्वाभाविक चेष्टाओं की व्यंजना में सूर का काव्य-शिल्प अद्वितीय है। विश्व साहित्य में कोई भी ऐसा कवि या लेखक नहीं, जो बाल-मनोविज्ञान में सूर का मुकाबला कर सके। हाथ और मुख में माखन लगाये, घुटनों के बल सरकते हुए माखन चोर का यह दृश्य मन को मुग्ध कर देता है -

सोभित कर नवनीत लिए।

घुटरुन चलत रेनु तन मंडित, मुख दधि लेप किए।।

दाऊ के चिढ़ाने पर नटखट कृष्ण चिढ़ उठते हैं। माँ यशोदा के पास उलाहना लेकर जाते हैं -

मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायौ।

मों सो कहत मोल को लीन्हों तों जसुमति कब जायौ।

सूर के इसी वात्सल्य वर्णन से चमत्कृत होकर पं. रामनरेश त्रिपाठी ने लिखा है - "वात्सल्य रस में सूर के समान कोई कवि न तो हुआ न होगा।" आचार्य शुक्ल के अनुसार - "वात्सल्य और श्रृंगार के क्षेत्रों का जितना उद्घाटन सूर ने अपनी बंद आँखों से किया उतना अन्य कवियों ने नहीं। इन क्षेत्रों का कोना-कोना वे झाँक आये हैं।"

'भ्रमरगीत सार' में गोपियों की वचनवक्रता और वाग्विदग्धता सूर की काव्य-प्रतिभा के सजीव उदाहरण हैं। कृष्ण की विरह वेदना में झुलसी हुई गोपियों को वृन्दावन के उपवनों का हरापन अच्छा नहीं लगता -

मधुबन तुम कत रहत हरे।

बिरह बियोग श्यामसुंदर के ठाढ़े क्यों न जरे ?

सूर की इन्हीं काव्य प्रतिभाओं से प्रेरित हो तानसेन ने कहा है -

किधौं सूर को सर लग्यौ, किधौं सूर को पीर।

किधौं सूर को पद लग्यौ, बेध्यौ सकल शरीर।।

कवि शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास का भक्तिकालीन कवियों में अद्वितीय स्थान है। उनके प्रादुर्भाव को हिन्दी काव्य क्षेत्र में एक चमत्कार माना गया है। आचार्य शुक्ल के अनुसार - "गोस्वामी जी के प्रादुर्भाव को हिन्दी काव्य के क्षेत्र में एक चमत्कार समझना चाहिए। हिन्दी काव्य-शक्ति का पूर्ण प्रसार उनकी

रचनाओं में ही सर्वप्रथम दिखलाई पड़ा।" डॉ. ग्रियर्सन ने गोस्वामी तुलसीदास को गौतम बुद्ध के बाद भारत का सबसे बड़ा लोकनायक कहा है। सूर का काव्य यदि सुन्दरम् से पूर्ण है तो गोस्वामी जी का शिवम् से। यद्यपि उन्होंने अपनी रचना को 'स्वान्तः सुखाय' माना है, फिर भी वह 'सुरसरि सम' सर्व मंगला बन गयी है। तुलसी के राम शक्ति, शील और सौन्दर्य से युक्त एक आदर्श एवं मर्यादावादी पुरुष के प्रतीक हैं। वे अत्याचारियों के विनाशक एवं सत्यवादियों, न्यायियों के उद्धारक हैं।

भाव, भाषा और शिल्प तीनों दृष्टियों से तुलसीदास की कविता सर्वश्रेष्ठ है। उन्होंने अपने युग में प्रचलित सभी शैलियों का प्रयोग किया है।

सूर, तुलसी के समान ही कबीर दास की वाणियों में भी अनमोल रत्न बिखरे मिलते हैं। वे एक क्रांतिकारी कवि थे। धार्मिक बाह्याडम्बरों एवं रूढ़ियों के खिलाफ हिन्दू-मुस्लिम दोनों सम्प्रदायों के साथ उनका विरोध चलता रहा। यद्यपि वे पढ़े-लिखे नहीं थे, फिर भी उनकी वाणियों में सनातन कवित्व का शृंगार पाया जाता है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में - "कबीर मस्तमौला थे। जो कुछ कहते थे साफ-साफ कहते थे जो मौज में आकर रूपक और अन्योक्तियों पर उतर आते थे तब जो कुछ कहते थे वह सनातन कवित्व का शृंगार होता था।"

इसी प्रकार जायसी ने 'पद्मावत' जैसे प्रबन्ध काव्य की रचना कर जन सुलभ प्रेम भक्ति का मार्ग तो खोल ही दिया, भाषा-भाव शैली के क्षेत्र में अद्भुत मार्गदर्शन किया।

(2) धर्म की व्यापक दृष्टि - इन कवियों की दृष्टि इतनी व्यापक थी कि छुआ-छूत, जाति-पाँति का भेदभाव हटाकर इन लोगों ने सबके लिये भक्ति का द्वार खोल दिया। जायसी मुसलमान होकर भी हिन्दू घरों की परम्पराओं को अपने काव्य का आधार बनाया। यद्यपि इस युग में धर्म सम्बन्धी सगुण एवं निर्गुण नामक दो धारायें चलीं परन्तु अंततः इन दोनों का उद्देश्य एक ही रहा है - मोक्ष की प्राप्ति।

(3) भारतीय संस्कृति के रक्षक - भक्तिकालीन संत एवं भक्त कवियों ने अपनी रचनाओं द्वारा भारतीय संस्कृति को बरकरार रखा। जिस समय इन भक्तों का प्रादुर्भाव हुआ उस समय मुस्लिम सम्राटों के तहत भारतीय संस्कृति दम तोड़ने लगी थी। ऐसी विषम परिस्थिति में इन भक्त कवियों ने जन-जन के हृदय में भक्ति का संचार कर उन्हें अपनी प्राचीन संस्कृति से अवगत कराया। तुलसीदास ने हिन्दुओं के पुराण पुरुष भगवान राम के मर्यादावादी स्वरूप को

उपस्थित किया, सूर ने कृष्ण की लोकरंजनकारी प्रवृत्ति को उभारा, कबीर ने ईश्वर के व्यापक स्वरूप की व्याख्या की एवं जायसी ने हिन्दुओं के परंपरागत संस्कारों को याद दिलाया। फलस्वरूप, भारतीय संस्कृति विनष्ट नहीं होने पायी।

(4) लोक-कल्याण की भावना - भक्त कवियों में लोक-कल्याण की व्यापक भावना पायी जाती है। लोक कल्याण की भावना से प्रेरित होने के कारण ही तुलसी लोकनायक कहलाने के अधिकारी बने। उनके राम राजघराने में पैदा होकर भी कोल, भीलों आदि जंगली जातियों के यहाँ ठहरकर उनके दुःख-सुख सुनते हैं। उनका रामचरित मानस केवल काव्य ही नहीं बल्कि मनुष्यता की महिमा का गान है। इसी प्रकार सूर के कृष्ण लोकरंजनकारी रूप लेकर आविर्भूत होते हैं। कबीर ने लोक कल्याण की भावना से जन-जागृति का जो शंख फूँका उससे समस्त भारत झंकृत हो उठा। उन्होंने धर्म के गूढ़ एवं जटिल सिद्धान्तों को सरल भाषा में प्रस्तुत कर उसे जन सुलभ बना दिया।

(5) समन्वयकारी दृष्टि - तुलसीदास का 'रामचरित मानस' शुरू से आखिर तक समन्वय का काव्य है। उनकी विशाल समन्वयकारी दृष्टि के कारण ही आचार्य द्विवेदी जी ने कहा है - "आज का समस्त उत्तर भारत गोस्वामी जी का रचा हुआ है। गोस्वामी जी उत्तर भारत के मेरुदण्ड हैं।" कबीर ने हिन्दू-मुस्लिम दोनों की धार्मिक प्रवृत्तियों में समन्वय स्थापित करते हुए दोनों के धार्मिक आडम्बरों की कटु आलोचना की है।

इन कवियों के अतिरिक्त गुरुनानक, दादूदयाल, मीराबाई, रसखान, रैदास तथा अष्टछाप के सभी कवियों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। भक्तिकाल की काव्य रचना, उत्कृष्ट विचार, भावों का माधुर्य, भाषा एवं कला पक्ष की प्रौढ़ता एवं काव्य शैलियों के वैविध्य को देखते हुए ही आलोचकों ने इसे 'स्वर्णयुग' की संज्ञा दी है। भक्तिकाल की कविता का उद्देश्य न तो कलाबाजी है न मनोरंजन। इस युग की कविता का संबंध जीवन से होने के कारण इसके उद्देश्य भी जीवन के उद्देश्य के समान ही हैं। इन कवियों ने जीवन को अत्यधिक गहराई से देखा है, इसीलिए इनका काव्य महान् और शाश्वत है। अतः भक्तिकाल सभी दृष्टियों से हिन्दी साहित्य का स्वर्णयुग और सर्वश्रेष्ठ युग है।

प्रश्न 17. संत काव्य परम्परा की विशेषताएँ बताइये।

अथवा

प्रश्न 18. ज्ञानाश्रयी भक्ति शाखा की प्रमुख प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालें।

उत्तर - मध्ययुगीन हिन्दी भक्ति-काव्य में सगुण एवं निर्गुण नाम की दो भक्ति पद्धतियाँ प्रचलित हुई। निर्गुण पंथ में योग और ज्ञान को ईश्वर-प्राप्ति का साधन बतलाया गया तथा सगुणपंथ में श्रद्धा एवं भक्ति को। हिन्दी का निर्गुण काव्य मूलतः बौद्ध धर्म की उपशाखा बज्रयान की प्रतिक्रिया से विकसित नाथ सम्प्रदाय से प्रभावित माना जाता है। संत काव्य या निर्गुण भक्ति काव्य सम्प्रदाय से प्रभावित माना जाता है। संत काव्य या निर्गुण भक्ति काव्य पर दूसरा प्रभाव संत नामदेव का माना जाता है। इस प्रकार संत काव्य की विशाल परम्परा को देखते हुए इसकी निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं -

(1) निर्गुण राम की कल्पना - ज्ञानाश्रयी शाखा के संत कवियों ने ब्रह्म के निर्गुण निराकार स्वरूप में विश्वास किया है। उनके राम दशरथ पुत्र राम नहीं, बल्कि ब्रह्माण्ड के कण-कण में रमने वाले नित्य हैं -

दसरथ सुत तिहु लोक बखाना।
राम नाम का मरम है आना।।

उनके राम वेद, पुराण, स्मृति आदि धार्मिक ग्रंथों में नहीं खोजे जा सकते। महात्मा कबीर ने स्पष्ट घोषणा की है -

निरगुन राम जपहुँ रे भाई।
अविगति की गति लखी न जाई।।

(2) एकेश्वरवाद का समर्थन - संत कवियों के अनुसार ईश्वर एक है। वह निराकार, अंतर्यामी एवं सर्वशक्तिमान है। संत कवियों ने हिन्दुओं के बहुदेववाद एवं अवतारवाद का खंडन करते हुए बताया है कि ईश्वर अवतार नहीं लेता, वह जन्म-मरण से परे है। हिन्दुओं और मुसलमानों के ईश्वर दो नहीं बल्कि एक ही हैं - उन्हें राम-रहीम, कृष्ण-करीम कुछ भी कह सकते हैं। इसीलिए संत कबीर ने चार भुजाओं वाले भगवान् को न मानकर उस व्यापक ईश्वर के मानने पर बल दिया है जिसकी भुजाएँ अनन्त हैं -

चारि भुजा के भजन में, भूलि परा सब संत।
कबीरा सुमिरे तासु को, जाकी भुजा अनन्त।।

(3) नाम स्मरण की महिमा - संत कवियों ने ईश्वर के नाम-जप एवं कीर्तन, भजन की महिमा को अपार बताया है। उन्होंने निराकार ईश्वर की प्राप्ति का एकमात्र सहज उपाय नामस्मरण ही बताया है। यही कारण है कि कबीर ने राम नाम के इस अक्षय भण्डार पर शीघ्र अधिकार करने की घोषणा की है -

लूटि सकै तौ लूटियौ, राम नाम भंडार।
काल कंठ तैं गहैगा, रूँधैं दसूं दुवार।।

(4) गुरु की महिमा - समग्र संत काव्य में गुरु के प्रति असीम श्रद्धा अभिव्यक्त की गयी है। कबीर ने गुरु एवं ईश्वर में गुरु की महत्ता अधिक स्वीकार की है, क्योंकि गुरु की महिमा प्राप्त करने के बाद ही ईश्वर के दर्शन हो सकते हैं। कबीर ने कहा है -

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागू पाय।
बलिहारी गुरु आपनो, जिन गोविन्द दियो बताय।।

कबीर ने तो एक जगह गुरु और गोविन्द को एक ही मानते हुए केवल उनके रूप में भिन्नता बतलाई है -

गुरु गोविन्द तौ एक है दूजा यहु आकार।

(5) सत्संगति की महिमा - निर्गुण ज्ञानी संत सत्संग को अपनी साधना का विशिष्ट अंग मानते हैं। इन कवियों के अनुसार सत्संग के द्वारा ही आचरण की शुद्धता, जीवन की पवित्रता, मन, वचन और क्रम में एकरूपता आ सकती है तथा वासना से मुक्ति मिल सकती है। सत्संग के द्वारा ही काम, क्रोध, मोह, लोभ इत्यादि का निषेध किया जा सकता है।

(6) जाति-पाँति का विरोध - निर्गुण शाखा के ज्ञानाश्रयी संतों ने जाति-पाँति का विरोध करते हुए ज्ञानियों को सर्वोपरि बताया है। इन संतों ने भक्ति का मार्ग सबके लिये खोल दिया। फलस्वरूप निम्न जाति के लोगों में भी आत्मसम्मान की भावना जाग उठी। कबीर ने स्पष्ट घोषणा की

जाति न पूछो साधु की पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार का पड़ा रहन दो म्यान।।

कबीर रामानन्द के शिष्य थे। रामानन्द ने भी जाति-पाँति का विरोध करते हुए कहा था -

जाति-पाँति पूछै नहिं कोई।
हरि को भजै सो हरि को होई।।

(7) अहंकार का त्याग - संत कवियों के अनुसार अहंकार का त्याग किये बिना ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। उन्होंने कहा है कि हृदय में एक ही साथ ईश्वर और अहंकार दोनों नहीं समा सकते। अतः ईश्वर को अपने हृदय में स्थान देने के लिये अहंकार का त्याग आवश्यक है -

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहि।
प्रेम गली अति सांकरी, तामै दो न समाहि।।

(8) आडम्बर का खंडन - संत कवियों ने सामाजिक एवं धार्मिक बाह्याडम्बरों का कटु शब्दों में खंडन किया है। यही कारण है कि संत काव्यों में हमें मूर्ति पूजा, तीर्थाटन, हिंसा, उपवास, रोजा, नमाज पढ़ना एवं तिलक लगाना, दाढ़ी बढ़ाना, कंठी फेरना आदि बाहरी आडम्बरों के प्रति विरोध-भाव के दर्शन होते हैं। कबीर ने कहा है -

कांकर पाथर जोरि के मस्जिद दिया बनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे, क्या बहरा हुआ खुदाय।।

इसके अतिरिक्त 'पाहन पूजै हरि मिले, तो मैं पूजूँ पहाड़', 'दढ़िया बढ़ाय जोगी होइ गइले बकरा' एवं 'संतों पांडे निपुन कसाई' आदि कहकर कथित ढोंगी, मुल्लाओं एवं साधुओं के प्रति कबीर ने अपना आक्रोश व्यक्त किया है।

(9) रहस्यवाद - डॉ. श्यामसुन्दर दास के अनुसार "रहस्यवादी कवियों में भी कबीर का ही आसन सबसे ऊँचा है। शुद्ध रहस्यवाद केवल उन्हीं का है।" कबीर के रहस्यवाद में भावनात्मक एवं साधनात्मक दोनों पक्ष पाये जाते हैं। भावनात्मक रहस्यवाद के क्षेत्र में कबीर ने दाम्पत्य प्रेम पद्धति को अपना कर अपनी अनेक ऐसी मार्मिक अनुभूतियों को अभिव्यक्त किया है जिसकी तरलता-गहनता अनुपम है। उनके प्रियतम पाहुने बन कर घर आते हैं और वे गा उठते हैं -

दुलहिन गावहु मंगलचार।
घर आये हों मेरे राजा राम भरतार।।

कबीर में साधनात्मक रहस्यवाद वहाँ मिलता है जहाँ वे हठयोग की विभिन्न क्रियाओं का वर्णन करते हैं उदाहरणार्थ, चन्द, सूर, नाद, धुँआ, सुरति, निरति, अनहद नाद आदि शब्दों एवं प्रतीकों द्वारा उनकी रहस्य भावना दृष्टिगोचर होती है।

(10) नारी के रूप एवं माया का बहिष्कार - संत कवियों ने नारी को माया का प्रतीक एवं साधना-मार्ग का बाधक बतलाया है। कबीर का मत है - "नारी की झाई परत अंधा होत भुजंग" फिर भी इन कवियों ने पतिव्रता नारी की प्रशंसा भी की है।

(11) भाषा-शैली - संत काव्य की भाषा साधारण जनता की भाषा है। संत कवि उस समय जिस स्थान पर गये वहाँ की भाषा को अपना लिया।

फलस्वरूप, कबीर, नानक, रैदास, सुन्दरदास आदि कवियों की भाषाओं में अवधी, भोजपुरी, राजस्थानी और पंजाबी के शब्द प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। यही कारण है कि आलोचकों ने इनकी भाषा को 'सधुक्कड़ी' एवं 'खिचड़ी भाषा' कहा है।

संत काव्य के शैली पक्ष में साहित्यिक मान्यताओं का आग्रह नहीं है। इनकी अटपटी वाणियाँ ही मानो साहित्य का शृंगार बनकर विभिन्न रस, छन्द एवं अलंकारों को जन्म दे देती हैं।

सारांशतः संत साहित्य हिन्दी साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग है। संत कवियों की अनमोल वाणियों में हमें जीवन की गहराई, उसकी वास्तविकता एवं स्वाभाविकता के दर्शन होते हैं जिनका अन्यत्र सुलभ होना किसी संयोग की बात है।

प्रश्न 19. 'सूफी' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए भक्तिकालीन प्रेम मार्गी शाखा की प्रमुख प्रवृत्तियों का विवेचन करें।

अथवा

प्रश्न 20. 'सूफी' शब्द से क्या समझते हैं ? निर्गुण प्रेमाश्रयी शाखा की मुख्य विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर - 'सूफी' शब्द के विषय में विद्वान एकमत नहीं हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार 'सूफी' शब्द यूनानी सोफोस (Sophos) शब्द से निकला है, जिसका अर्थ है 'बुद्धिमान या ज्ञानी।' कुछ विद्वानों के अनुसार 'सूफी' शब्द 'सूफ' से बना है, जिसका अर्थ है 'सफेद ऊन का'। सूफी लोग सफेद ऊन के मोटे वस्त्र पहना करते थे, इसीलिए उन्हें सूफी कहा जाता था। कुछ विचारकों के अनुसार 'सूफी' शब्द 'सफ' शब्द से निकला है, जिसका अर्थ है 'अग्रिम पंक्ति'। अर्थात् कयामत के दिन अगली पंक्ति में खड़े होने के अधिकारी व्यक्ति को सूफी कहा जाता है। विद्वानों का एक वर्ग सुफ्फा (चबूतरा) पर बैठने वाले लोगों को सूफी कहा है।

'सूफी' शब्द का अर्थ चाहे जिससे लगाया जाय, यह तो स्पष्ट है कि सूफी कवि बहुत ही उदारवादी संत थे। इन्होंने प्रियतम-प्रियतमा के रूप में आत्मा-परमात्मा का संबंध निरूपित किया है। इसे भक्ति की प्रेम मार्गी शाखा कहा गया है। संक्षेप में प्रेममार्गी शाखा की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं -

(1) प्रबन्ध-कल्पना - सूफी कवियों ने लौकिक प्रेम कथाओं के माध्यम से अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना की है। इन कवियों ने अपनी प्रबन्ध-कल्पना तीन

अंशों में विभक्त कर नियोजित की है। प्रारंभिक अंश में नायक और नायिका के जन्म की कथा, युवावस्था में परिचय, नायिका की प्राप्ति-हेतु नायक का गृह त्याग आदि के वर्णन मिलते हैं। द्वितीय अंश में नायक की उन कठिनाइयों का अंकन है जो नायिका की खोज में उठाना पड़ता है। तृतीय अंश में नायिका के मिलन, पाणि-ग्रहण एवं स्वदेश प्रत्यागमन का वर्णन है। इन प्रबन्ध काव्यों में सर्गों का विभाजन फारसी की मसनवी शैली पर आधारित है।

(2) भाव-व्यंजना - सूफी कवियों की मूल संवेदना प्रेममूलक है। अतः इनके काव्यों में शृंगार का प्राधान्य है। शृंगार के संयोग एवं वियोग दोनों पक्षों का पूर्ण विवेचन इनके काव्यों में पाया जाता है। संयोग की अपेक्षा वियोग-वर्णन इन कवियों ने बहुत ही गहनता एवं तत्परता के साथ किया है। बारहों महीनों में वियोग का वर्णन बहुत ही मार्मिक बन पड़ा है। इनका शृंगार लौकिक धरातल पर होते हुए भी अलौकिकता से पूर्ण है। अतः इसमें आध्यात्मिक एवं दार्शनिक तत्त्वों की पूर्ण अभिव्यंजना हुई है।

(3) प्रतीकात्मकता - सूफी कवियों ने विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से लौकिक प्रेम की आधारशिला पर अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति की है। कविवर जायसी का प्रतीक विधान द्रष्टव्य है -

तन चितउर, मन राजा कीन्हा।
हिय सिंघल, बुधि पदमिनि चीन्हा।
गुरु सुआ जेइ पंथ देखावा।
बिनु गुरु जग को निरगुन पावा।
नागमती यह दुनिया धंधा।
बाँचा सोइ न एहि चित बंधा।
राघव दूत सोइ सैतानू।
माया अलाउदीं सुलतानू।

(4) रहस्य-भावना - सूफी प्रेम काव्यों में रहस्यवाद की सुन्दर तथा सरल व्याख्या हुई है। आचार्य शुक्ल के अनुसार - "हिन्दी के पुराने साहित्य में रहस्यवादी कवि सम्प्रदाय यदि कोई कहा जा सकता है तो इन कहने वाले मुसलमान कवियों का।" सूफियों के अनुसार यह सारा जगत एक ऐसे रहस्यमय प्रेम-सूत्र में बँधा है जिसका अवलंबन करके जीव उस प्रेम मूर्ति तक पहुँचने का मार्ग पा सकता है। जायसी को पद्मावती की सुन्दरता में अलौकिक ज्योति के दर्शन होते हैं।

नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नग हीर।।

(5) पात्र और चरित्र-चित्रण - सूफी काव्य प्रबंधात्मक है अतः इसमें पात्रों का चरित्र-चित्रण विशद रूप से हुआ है। सभी पात्र लौकिक एवं ऐतिहासिक होते हुए भी अलौकिक अर्थ की सृष्टि करते हैं। इन सूफी काव्य चरित्रों का निर्माण चार रूपों में होता है -

(क) आदर्श रूप में - जैसे, राजा रतनसेन का चरित्र।
(ख) जाति स्वभाव के रूप में - जैसे, नागमती का चरित्र।
(ग) व्यक्ति स्वभाव के रूप में - जैसे, राघव-चेतन का चरित्र।
(घ) सामान्य रूप में - जैसे, रतनसेन और बादल की माता का चरित्र।

इनके कुछ पात्र ऐतिहासिक एवं कुछ काल्पनिक हैं।

(6) समन्वय की प्रवृत्ति - निर्गुण ज्ञानाश्रयी संतों की अपेक्षा सूफी कवियों में समन्वय की प्रवृत्ति बहुत ही सहज रूप में पायी जाती है। आचार्य शुक्ल के अनुसार - "इन्होंने मुसलमान होकर हिन्दुओं की कहानियाँ हिन्दुओं की ही बोली में पूरी सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखा दिया।" इस प्रकार मुसलमान होते हुए भी इन कवियों ने हिन्दू संस्कृति एवं परम्परा का जो समुचित उल्लेख किया है, उससे इनकी समन्वयवादी दृष्टि दृष्टिगोचर होती है।

(7) विविध प्रभाव - जिस प्रकार भारत में बौद्धधर्म हिन्दू कर्मकाण्ड की प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुआ उसी प्रकार सूफी धर्म को इस्लाम धर्म के कर्मकाण्ड की प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुआ कहा गया है। सूफी मत पर भारतीय अद्वैतवाद इस्लाम की गुह्य विद्या एवं वैष्णवों के अहिंसावाद का प्रभाव है। सूफी संतों पर हठयोग एवं यौगिक क्रियाओं का प्रभाव भी विशिष्ट रूप से परिलक्षित है। उदाहरणार्थ -

सातों दीप नवों खंड आठों दिसा जो आहि।
जो ब्रह्माण्ड से पिंड है हेरत अंत न जाहि।।

(8) शैतान की कल्पना - भारतीय अद्वैतवाद में जो स्थान माया का है, सूफी काव्यों में वही स्थान शैतान का है। शैतान प्रेम-साधक के सामने आकर विभिन्न प्रकार की बाधाएँ उपस्थित करता है। अतः इससे मुक्ति पाने के लिये गुरु की शरण लेनी पड़ती है। जायसी ने कहा है कि गुरु के बिना निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। 'बिनु गुरु जगत को निरगुन न पावा।'

(9) नारी भावना - सूफी प्रेम काव्यों में नारी को उस नूर का स्थान दिया गया है जिसके बिना यह विश्व सूना है। उसे परमात्मा के प्रतीक रूप में स्वीकृत किया गया है। यही कारण है कि उसे अलौकिक ज्योति-पुंज एवं परम शक्ति से युक्त बतलाया गया है। साधक उसकी अलौकिकता की प्रशंसा सुनते ही मूर्छित हो जाता है, और उसे प्राप्त करने के लिए संघर्ष करने लगता है। इन कवियों ने नारी को, जो लौकिक है, माया का प्रतिरूप कहा है।

(10) भाषा-शैली - सूफी प्रेमाख्यानों की भाषा अवध प्रांत की अवधी भाषा है। कहीं-कहीं भोजपुरी, ब्रज एवं अरबी, फारसी के शब्द भी मिलते हैं।

रस, छन्द एवं अलंकार की दृष्टि से सूफी काव्यों का विशेष महत्त्व रहा है। श्रृंगार रस के साथ वीर, शांत एवं करुण रसों का भी सुन्दर समावेश इन आख्यानकों में पाया जाता है। छन्द विधान की दृष्टि से दोहा एवं चौपाई को इन कवियों ने विशेष रूप से अपनाया है। इनके काव्यों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति एवं समासोक्ति के विशेष उदाहरण मिलते हैं। इनकी शैली फारसी साहित्य की मसनवी शैली पर आधारित है।

इस प्रकार निश्चय ही सूफी प्रेमाख्यानक काव्य हिन्दी साहित्य के अमूल्य धरोहर हैं। इनके साहित्य में त्रिवेणी-सा संगम है, जहाँ पहुँचकर हिन्दू-मुसलमान सभी तृप्त हो जाते हैं। शुक्ल जी के शब्दों में "कुतुबन, जायसी आदि इन प्रेम कहानी के कवियों ने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन दशाओं को सामने रखा जिनका मनुष्य मात्र के हृदय पर एक-सा प्रभाव दिखाई पड़ता है। हिन्दू हृदय और मुसलमान हृदय आमने-सामने करके अजनबीपन मिटाने वालों में इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा।"

प्रश्न 21. हिन्दी रामभक्ति काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का विवेचन करें।

अथवा

प्रश्न 22. रामभक्ति काव्य की मुख्य विशेषताओं पर प्रकाश डालें।

उत्तर - दक्षिण के रामानुजाचार्य ने रामभक्ति की जो सरिता प्रवाहित की, वह पन्द्रहवीं शताब्दी तक आते-आते सम्पूर्ण भारत के श्रद्धालुओं का हृदय आप्लावित करने लगी थी। उन्हीं के शिष्य परम्परा में पन्द्रहवीं शताब्दी में श्री रामानन्द का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने भक्ति का मार्ग सबके लिए खोल दिया। उनकी स्पष्ट घोषणा थी -

जाति-पांति पूछे नहिं कोई।
हरि को भजे सो हरि को होई।।

स्वामी रामानन्द से ही दीक्षा लेकर कबीर ने निर्गुण ब्रह्म की उपासना पर बल दिया एवं उनके शिष्य बाबा नरहरिदास से दीक्षा लेकर तुलसीदास ने राम के सगुण रूप का प्रतिपादन किया। चूँकि रामभक्ति साहित्याकाश में गोस्वामी जी सूर्य के समान छाये रहे हैं, अतः इन्हीं को केन्द्र मानते हुए रामभक्ति काव्य की निम्नलिखित विशेषताएँ बतलायी गई हैं –

(1) राम का स्वरूप – रामभक्त कवियों के राम विष्णु के अवतार और परब्रह्म स्वरूप हैं। इन राम भक्त कवियों के राम शक्ति, शील और सौन्दर्य से युक्त पुरुषोत्तम के रूप में चित्रित हैं। गोस्वामी जी ने आवश्यकतानुसार राम के सगुण एवं निर्गुण दोनों रूपों को स्वीकार किया है। उन्होंने कहा है –

हिय निर्गुन नयनन्हि सगुन रसना नाम सुनाय।
मनहुँ पुरट संपुट लसत तुलसी ललित ललाम।।

इस प्रकार इनके राम निर्गुण होते हुए भी सगुण रूप धारण करने वाले हैं, वे नर होकर भी नारायण हैं, वे मायातीत हैं एवं ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश को नचाने वाले हैं।

(2) समन्वय-भावना – तुलसीदास की विशाल समन्वयकारी दृष्टि को देखते हुए ही जार्ज ग्रियर्सन ने उन्हें गौतम बुद्ध के पश्चात् भारत का सबसे बड़ा लोकनायक कहा है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार – "उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। लोक और शास्त्र का समन्वय, गार्हस्थ्य और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय, पाण्डित्य और अपाण्डित्य का समन्वय, रामचरित मानस शुरू से आखिर तक समन्वय का काव्य है।" शैव और वैष्णव सम्प्रदाय का समन्वय कराते हुए उन्होंने राम से कहलवाया है – "शिवद्रोही ममदास कहावा, सो नर सपनेहुँ मोहि न भावा।"

(3) लोक-संग्रह की भावना – तुलसी-काव्य में लोक-संग्रह की विशाल एवं कुशल प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। उन्होंने राजा दशरथ के परिवार का सकल रूप स्थापित कर, हिन्दू परिवार के आदर्श की स्थापना की है। उनके काव्य में राजा दशरथ आदर्श पिता, राम आदर्श पुत्र, सीता आदर्श पत्नी, कौशल्या आदर्श माता, लक्ष्मण-भरत आदर्श भाई, हनुमान आदर्श सेवक एवं सुग्रीव आदर्श मित्र के रूप में चित्रित हुए हैं। इस प्रकार उनका सारा काव्य लोकादर्श एवं लोक-कल्याण की भावना से युक्त है।

(4) भक्ति का स्वरूप – राम काव्य में ज्ञान, कर्म एवं भक्ति की महत्ता का

प्रतिपादन अलग करते हुए, भक्ति की श्रेष्ठता बतलायी गयी है। गोस्वामी जी ने कहा है -

बिनु विस्वास भगति नहीं, तेहि बिनु द्रवहिं न राम।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ, जीवन लह विश्राम।।

राम के प्रति भक्ति भावना के अतिरिक्त शिव, ब्रह्मा आदि देवताओं के प्रति भी भक्ति प्रदर्शित की गयी है। राम भक्ति में नवधा भक्ति को प्रमुख स्थान प्राप्त है।

(5) गुरु का महत्त्व - भक्त कवियों ने गुरु के महत्त्व को मुक्तकंठ से स्वीकार किया है। गुरु के स्मरण मात्र से ही गोस्वामी जी के हृदय में दिव्य-दृष्टि उत्पन्न हो जाती है -

श्री गुर पद नख मनि गन जोती।
सुमिरत दिव्य दृष्टि हियँ होती।।

अन्यत्र उन्होंने गुरु को नर-रूप में भगवान बतलाया है -

बंदउँ गुरु पद कंज कृपा सिंधु नर रूप हरि।

(6) नाम की महत्ता - राम भक्ति शाखा के कवियों ने ब्रह्म राम की अपेक्षा नाम को अधिक प्रभावशाली बताया है। गोस्वामी जी ने कहा है -

ब्रह्म राम ते नामु बड़ बर दायक बर दानि।

उनकी दृष्टि में नाम-जप सम्पूर्ण पापों की जड़ उखाड़ने वाला है।

(7) तत्कालीन परिस्थितियों का चित्रण - मानस में गोस्वामी जी ने तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का तथ्यपूर्ण चित्रण किया है। तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों से असंतुष्ट होने के कारण ही उन्होंने 'रामराज्य' का आदर्श जनता के सामने प्रस्तुत किया। रावण-राज्य की निरंकुशता को दिखलाकर उन्होंने तत्कालीन मुगलों की अनीतिपूर्ण शासन व्यवस्था का चित्र उभारा है। डॉ. श्रीधर सिंह के शब्दों में - "तुलसी ने युग बोध को समग्र रूप में ही व्यक्त किया और समग्र रूप में प्रस्तुत किया। इसीलिए तुलसी के युग का पूरा चित्र भी मूर्तित है और उसी परिदृश्य में सम्पूर्ण मानव-जीवन का अखण्ड आकार भी।"

(8) भाषा-शैली - रामकाव्य की मुख्य भाषा अवधी है। गोस्वामी जी के ग्रंथों में अवधी भाषा के प्रयोग अधिक मिलते हैं। केशवदास की भाषा में ब्रजभाषा का प्रयोग अधिक है, पर भोजपुरी, बुंदेलखंडी तथा राजस्थानी भाषाओं के भी प्रयोग मिलते हैं।

राम काव्य में काव्य की विभिन्न शैलियों के प्रयोग मिलते हैं। राम काव्य प्रबंधात्मक अधिक है, पर कहीं-कहीं मुक्तक शैली के भी प्रयोग हैं। राम काव्य में यद्यपि सभी रसों का सुन्दर समावेश है तथापि शांत रस की प्रधानता रही है।

राम काव्य में मुख्य रूप से दोहा, चौपाई आदि छन्दों के प्रयोग प्रचुर मात्रा में हैं, परन्तु गौण रूप से सोरठा, कुंडलियाँ, छप्पय, सवैया, कवित्त, बरवै आदि छन्दों के भी प्रयोग हुए हैं।

इस शाखा के कवियों ने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, संदेह, विरोध, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग किया है।

इस प्रकार राम काव्य में रचना-कौशल के साथ-साथ प्रबंधपटुता, सहृदयता, समन्वयवादिता आदि तो मिलती ही है, लोकमंगल की कामना के साथ प्रसंगानुकूल भाषा का प्रवाह भी द्रष्टव्य है। डॉ. माता प्रसाद गुप्त के शब्दों में - "हिन्दी रामभक्ति धारा में अनेक कवि हुए, किन्तु रामभक्ति धारा का साहित्यिक महत्त्व अकेले तुलसीदास के कारण है। धारा के अन्य कवियों और तुलसीदास में अन्तर तारागण और चन्द्रमा का नहीं, तारागण और सूर्य का है। इसीलिए इस धारा का अध्ययन मुख्यतः तुलसीदास में ही केन्द्रित करना होगा।"

प्रश्न 23. हिन्दी कृष्णभक्ति काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों की विवेचना कीजिए।

अथवा

प्रश्न 24. कृष्ण काव्य परम्परा की विशेषताएँ स्पष्ट कीजिए।

उत्तर - महाप्रभु बल्लभाचार्य द्वारा प्रवाहित कृष्णभक्ति की सरिता उत्तर भारत के सहृदय भक्त श्रद्धालुओं को आप्लावित करती हुई भक्ति की मौलिक उद्भावना की। बल्लभाचार्य के उपरान्त उनके पुत्र स्वामी विट्ठल नाथ ने सर्वश्री सूरदास, नन्ददास, कुम्भनदास, कृष्णदास, परमानन्ददास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, गोविन्द स्वामी आदि आठ भक्तों को लेकर अष्टछाप की स्थापना की। इन कवियों ने कृष्ण की लीला का वर्णन करते हुए उनके प्रति अपनी असीम भक्ति भावना प्रकट की। इन भक्त कवियों के अतिरिक्त हित-हरिवंश, मीराबाई, रसखान आदि कवियों ने भी कृष्णभक्ति परम्परा को विकसित करते हुए अपना अमूल्य सहयोग प्रदान किया है। मध्यकालीन कृष्णभक्ति की इस विशाल परम्परा को देखते हुए इसकी निम्नलिखित विशेषताएँ निश्चित की गयी हैं -

(1) मूल प्रतिपाद्य कृष्ण लीला गान - सम्पूर्ण कृष्ण भक्त कवियों का मूल

प्रतिपाद्य अपने आराध्य कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का गान करना रहा है। इस लीलागान में माधुर्यभाव का प्राधान्य रहने के कारण शृंगार रस की प्रधानता रही है। इस लीला श्रवण का प्रतिफलन बताते हुए कवि नंददास ने कहा है -

जो यह लीला चित दै सुनै सुनावै।
प्रेम भक्ति सो पावै अरु सबकै जिय भावै।

इन कवियों ने कृष्ण की लीलाओं का वर्णन विविधमयी शैलियों में किया है। श्रीकृष्ण असंभव कार्य को भी खेल-खेल में कर दिखाते हैं। कृष्णभक्ति काव्य में बाललीला एवं प्रेमलीला का सम्यक् निरूपण हुआ है।

(2) भक्ति का स्वरूप - स्वामी बल्लभाचार्य ने जिस पुष्टिमार्गीय भक्ति का प्रतिपादन किया है उसके लिए भगवान का अनुग्रह अपेक्षित है। भगवान की कृपा प्राप्त करने के लिए नवधा भक्ति का विधान बतलाया गया है। स्वामी बल्लभाचार्य ने नवधा भक्ति के नव विधानों के अतिरिक्त प्रेम लक्षणा नामक दशवीं भक्ति का विधान किया है -

श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-रत, अर्चन, वंदन, दास।
सख्य और आत्मनिवेदन प्रेम लक्षणा जास।।

परन्तु भक्ति के इन विभिन्न सोपानों में कृष्ण भक्त कवियों ने प्रेमा भक्ति को सर्वोपरि स्थान दिया है। अतः इनकी भक्ति माधुर्य प्रधान है। ईश्वर के सगुण और निर्गुण रूपों में सगुण रूप को इन कवियों ने अधिक प्रमुखता दी है।

(3) प्रकृत्ति-चित्रण - प्रकृति मानव की चिर सहचरी है। कृष्ण भक्त कवियों ने प्रकृति के आलम्बन एवं उद्दीपन दोनों रूपों का चित्रण किया है। प्रातःकालीन सुषमा के साथ प्रकृति-चित्रण करते हुए सूर कहते हैं - 'जागिए ब्रजराज कुँवर कमल कुसुम खिले।' विरह से व्यथित गोपियों को तारकावलि-युक्त रजनी नागिन की तरह फुफकारती मालूम पड़ती है - 'पिया बिनु नागिन कारी रात।' इस प्रकार इन कवियों ने कृष्ण की लीला-भूमि ब्रज की लताकुंजों, वन उपवन, सरोवर, यमुना एवं अन्य प्राकृतिक दृश्यों का बहुत ही मनोहारी वर्णन किया है।

डॉ. रामरतन भटनागर के शब्दों में - "कृष्ण का विकास जैसे ब्रजभूमि में होता है उसी प्रकार सूर साहित्य का विकास भी ब्रज प्रकृति की छाया में होता है।"

(4) दार्शनिकता - कृष्ण भक्त कवि दार्शनिक नहीं थे बल्कि वे विशुद्ध भक्त थे। अतः वे कर्म, ज्ञान, उपासना को भ्रम जाल समझकर श्रीकृष्ण के लीला

गान में ही रमे रहे। स्वयं सूर ने कहा है -

कर्म योग ज्ञान उपासन सबहीं भ्रम भरमायो।
श्री बल्लभ गुरु तत्त्व सुनायो लीला भेद बतायो।।

फिर भी उनके काव्य में जीव, जगत, माया, ब्रह्म आदि की नितान्त उपेक्षा नहीं की गयी है। इन भक्त कवियों ने माया को भक्ति मार्ग का बाधक मानते हुए मोक्ष की प्राप्ति के लिए भक्ति मार्ग को अपनाना श्रेयस्कर बतलाया है। माया, जीव एवं जगत संबंधी जितने भी मतवाद प्रचलित हैं उन सब पर पुष्टिमार्ग की छाप होने के कारण इनके दार्शनिक विचार बहुत ही सरस एवं मनोरम बन गये हैं। डॉ. हरवंशलाल शर्मा के अनुसार - "यद्यपि सूर ने अनेक प्रकार के माया का वर्णन किया है तथापि माया के संबंध में उन पर पुष्टिमार्ग का ही प्रभाव था।"

(5) लोक-दृष्टि - भक्ति के प्रति अगाध तन्मयता के कारण कृष्ण भक्त-कवियों के काव्य में लोक मंगल की भावना नहीं उभर पायी है। आचार्य शुक्ल के अनुसार - "तुलसीदास के समान लोक-संग्रह का भाव इनमें न था। समाज किधर जा रहा है इस बात की परवाह ये नहीं करते थे।" और ऐसा इसलिए हुआ है कि ये कवि सौन्दर्य के उपासक एवं कृष्ण प्रेम के दीवाने रहे हैं। फिर भी उनमें कृष्ण के लोक-रक्षक एवं रूढ़ि-भंजक रूप को कम नहीं उभारा गया है। डॉ. राम कुमार वर्मा के शब्दों में - "सूरदास की कविता में हम विश्वव्यापी राग सुनते हैं। वह राग मनुष्य-हृदय का सूक्ष्म उद्‌गार है।" इस प्रकार इन काव्यों में लोक पक्ष भी यत्र-तत्र उभर कर अवश्य आया है।

(6) संगीतात्मकता - कृष्णभक्ति धारा में सभी कवियों की कविताएँ संगीतात्मकता से मानो ओत-प्रोत हैं। सूर का सूरसागर तो मानो गीतों का सागर ही है। उनकी कविता में समस्त प्रचलित और अप्रचलित राग-रागिनियों का सफल समावेश है। शिखर चन्द जैन के अनुसार - "वास्तव में यदि काव्य और संगीत का सच्चा समन्वय प्रकृत रूप से कोई कर सका है तो वह सूर ही हैं।" इसी प्रकार अष्टछाप के अन्य कवियों एवं मीराबाई तथा रसखान आदि की कविताएँ भी संगीत की मधुरिमा से आवेष्टित हैं।

(7) काव्यरूप - काव्यरूप की दृष्टि से संपूर्ण कृष्ण काव्य मुक्तक काव्य की कोटि में आते हैं। इस धारा के कवियों ने प्रबन्ध काव्य-रचना की ओर ध्यान नहीं दिया। परन्तु मुक्तक काव्य में ही भावनाओं को सजाकर क्रमबद्ध रूप से इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि उसमें प्रबंध काव्य-सा आनंद आता है। 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' एवं 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' जैसे ब्रजभाषा गद्य

के भी रूप मिलते हैं।

(8) पात्र एवं चरित्र-चित्रण - कृष्ण काव्य-परम्परा के कवियों ने प्रबन्ध काव्य रचना को न अपनाकर मुक्तक काव्य शैली को ही अधिक अपनाया है। अतः इनके काव्यों में रामभक्ति-काव्यों के समान पात्रों के बहुआयामी चरित्र नहीं उभरते। कृष्ण के लीला रूप एवं लोक कल्याणकारी रूप के साथ राधा, नन्द-यशोदा एवं गोप-गोपियों के चरित्र भी अपने-अपने स्थान पर अनुकरणीय हैं।

(9) भाषा-शैली - कृष्णभक्ति काव्य की मुख्य भाषा ब्रजभाषा ही रही है। इन कवियों की भाषा प्रवाहमयी, संगीतात्मक, सजी एवं भावानुकूल है। डॉ. राम कुमार वर्मा के शब्दों में - "भाषा के विचार से सूरदास प्रथम कवि हैं जिन्होंने ब्रजभाषा को साहित्यिक रूप दिया।" ब्रजभाषा के अतिरिक्त इन कवियों की रचनाओं में भोजपुरी, राजस्थानी, पंजाबी, संस्कृत आदि भाषाओं के शब्द भी मिलते हैं।

कृष्ण काव्य की मुख्य शैली गीति शैली ही रही है जिसमें संक्षिप्तता, संगीतात्मकता एवं सशक्त अभिव्यंजना है।

इस धारा के कवियों ने मुख्य रूप से दोहा, चौपाई, रोला, सवैया, कुंडलियाँ, छप्पय आदि छन्दों की योजना प्रस्तुत की है। भक्ति रस की प्रधानता रही है, परन्तु श्रृंगार, वात्सल्य एवं शांत रस की उद्भावना भी कम नहीं हुई है। इस युग में मुख्य रूप से उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के प्रयोग हुए हैं।

सारांशतः हिन्दी साहित्य में कृष्णभक्त कवि प्रेममाधुर्य का जो सुधा स्रोत बहा गये हैं उसके प्रभाव से हमारे काव्य क्षेत्र में हमेशा सरसता बनी रहेगी।

प्रश्न 25. अष्टछाप के विभिन्न कवियों का परिचय देते हुए महाकवि सूरदास का स्थान निरूपित कीजिए।

उत्तर - कृष्णभक्ति के अनन्य उपासक महाप्रभु बल्लभाचार्य के महाप्रयाण के पश्चात् उनके पुत्र स्वामी विट्ठल नाथ ने पुष्टिमार्गीय सर्वोत्तम आठ कवियों को चुनकर अष्टछाप की प्रतिष्ठा की। ये कविगण हैं -

अष्टछाप के कवि सूर, कुम्भन, परमानन्द कहाते हैं।
कृष्णदास, गोविन्द, छीत, चतुर्भुज, नन्ददास भी आते हैं।

(1) कुम्भनदास - वार्ता साहित्य के आधार पर कुम्भनदास का जन्म सं. 1525 (सन् 1468 ई.) में हुआ था। ये बल्लभाचार्य के शिष्य थे। कुंभनदास ब्रज के निकट पारसोली ग्राम के रहने वाले थे। कुंभनदास के संगीत और काव्य रचना की ख्याति सुनकर एक बार सम्राट अकबर ने उन्हें फतेहपुर सीकरी में

बुलाया जहाँ अकबर के सामने उन्होंने यह पद गाया -

संतन को कहा सीकरी सों काम ?

आवत जात पनहियाँ टूटी, बिसरि गयो हरिनाम।।

(2) परमानन्ददास - श्री परमानन्ददास का जन्म संवत् 1550 (सन् 1493 ई.) में कन्नौज के एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में हुआ था। ये स्वामी बल्लभाचार्य के प्रमुख शिष्य एवं अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि तथा कीर्तनकार थे। कृष्ण के वात्सल्य, शृंगार एवं भक्ति-भावना से संबंधित इनके बहुत से पद मिलते हैं। इनके पदों की तन्मयता से एक बार स्वामी बल्लभाचार्य मूर्च्छित हो गये थे। इनका एक पद दर्शनीय है -

कहा करौं बैंकुंठहि जाय ?

जहँ नहि नंद, जहाँ न जसोदा, नहि जहँ गोपी ग्वाल न गाय।।

(3) कृष्णदास - स्वामी कृष्णदास जी का जन्म संवत् 1523 (सन् 1496 ई.) में गुजरात के 'चिलोतरा' नामक ग्राम में एक शूद्र परिवार में हुआ था। ये भी बल्लभाचार्य जी के शिष्य एवं अष्टछाप के कवियों में से थे। ये आजीवन अविवाहित रहे एवं श्रीनाथ जी के मंदिर के अधिकारी बने रहे। इनके पद अधिक शृंगारपरक हैं। एक उदाहरण -

तेरे चपल नैन जो खंजन तैं नीके।

ताप हरन अति विदित विस्व महि देखत सब दल लागत फीके।।

(4) गोविन्द स्वामी - गोविन्द स्वामी का जन्म संवत् 1562 (सन् 1505 ई.) में भरतपुर के अंतरी नामक ग्राम में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। कुछ समय तक गृहस्थ जीवन बिताने के पश्चात् ये विरक्त हो भगवत् भजन करने लगे। इनके पदों की रचना एवं गायन शैली से प्रसन्न होकर स्वामी बिट्ठलनाथ ने सन् 1535 ई. में इन्हें अपना शिष्य बनाकर अष्टछाप में शामिल कर लिया। इनके शृंगाररस-सिक्त एवं लीला विषयक गानों को सुनने के लिए तानसेन भी कभी-कभी आया करते थे। एक उदाहरण -

फूलो पालने बलि जाऊँ।

स्याम सुन्दर कमल लोचन देखत अति सुख पाऊँ।

अति उदार बिलोकि आनन पिवत नाहि अघाऊँ।।

(5) छीत स्वामी - छीत स्वामी का जन्म संवत् 1572 (सन् 1525 ई.) के लगभग मथुरा में हुआ था। पंडा होने के कारण ये अक्कड़ एवं उद्दंड स्वभाव के व्यक्ति थे। सन् 1535 ई. में स्वामी बिट्ठलनाथ ने इन्हें अपना शिष्य बनाकर

अष्टछाप में शामिल कर लिया। पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के बाद ये श्रीकृष्ण संबंधी लीला एवं शृंगार के पदों की रचना करने लगे। एक उदाहरण -

भोर भये नवकुंज सदन तें, आवत लाल गोवर्धनधारी।
लटपट पाग मरगजी माला, सिथिल अंग डगमग गति न्यारी।।

(6) चतुर्भुजदास - इनका जन्म सन् 1530 ई. के लगभग गोवर्द्धन के पास जमुनावती ग्राम में हुआ था। ये कवि कुम्भनदास के छोटे पुत्र थे। स्वामी बिट्ठलनाथ जी ने अपना शिष्य बनाकर इन्हें अष्टछाप में शामिल कर लिया। इनकी भाषा बहुत ही सुव्यवस्थित है। उदाहरणार्थ -

जसोदा ! कहा कहौं हौं बात ?
तुम्हरे सुत के करतब मो पै कहत कहे नहिं जात।।

(7) नन्ददास - अष्टछाप के कवियों में सूरदास के बाद नन्ददास का ही नाम लिया जाता है। इनका जन्म सूकर क्षेत्र के पास रामपुर नामक ग्राम में एक सनाढ्य ब्राह्मण परिवार में हुआ था। स्वामी बिट्ठलदास जी ने इन्हें अपना शिष्य बनाकर अष्टछाप में शामिल कर लिया। इनकी रचना बड़ी सरस एवं मधुर है। इनकी सरस भाषा शैली को देखकर ही किसी ने कहा है - 'और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया।'

इनकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'रासपंचाध्यायी' है जिसमें कृष्ण की रासलीला का साहित्यिक भाषा में विस्तार से वर्णन है। इसके अतिरिक्त भी इनके लिखे बहुत से ग्रंथ हैं। एक उदाहरण -

सुनि मोहन संदेस रूप सुमिरन है आयो।
पुलकित आनन अलक अंग आवेस जनायो।
विह्वल है धरनी परी ब्रज बनिता मुरझाई।
दै जल छींट प्रबोधहिं ऊधो बात बनाई। सुनो ब्रजनागरी।

(8) सूरदास - 'अष्टछाप के मुकुटमणि, श्रीनाथ जी के प्रधान कीर्तनिया, कृष्णकाव्य के सर्वश्रेष्ठ कवि, प्रभु के अनन्य भक्त, गोपियों के रूप में विरह की साक्षात् प्रतिमा महाकवि सूरदास हिन्दी साहित्य की ही नहीं अपितु विश्व साहित्य की एक अनन्य विभूति हैं।' इनका जन्म संवत् 1535 के लगभग दिल्ली के निकट 'सीही' नामक स्थान में हुआ था। इनके जन्म एवं मृत्यु संबंधी भ्रांतियों का अभी निराकरण नहीं हो पाया है।

सूर की सच्ची भक्ति भावना और अनूठी कवित्व शक्ति को देखकर स्वामी बल्लभाचार्य ने उन्हें अपना शिष्य बनाकर श्रीनाथजी के मंदिर में कीर्तन सेवा का

कार्य सौंप दिया। इनका प्रधान ग्रंथ सूरसागर है जो विनय, बाल-लीला और भ्रमरगीत में विभक्त है। विनय के पदों में आराध्य कृष्ण के प्रति भक्ति भावना प्रदर्शित की गयी है तथा बाल-वर्णन में श्रीकृष्ण की बचपनावस्था का वर्णन अनेकानेक रूपों में किया गया है।

वात्सल्य-वर्णन में सूर की लेखनी बेजोड़ है। यही कारण है कि आलोचकों ने सूर का नाम वात्सल्य और वात्सल्य का नाम सूर कहा है। सूर का वात्सल्य चित्रण गर्भावस्था से प्रारंभ होता है और जन्मोपरांत बाल्यावस्था तक अनेक गतिविधियों का चित्रण करते चलता है। वात्सल्य वर्णन में सूर ने अपनी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक पैठ का जो उदाहरण दिया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। बालक कृष्ण बलदेव भैया को डाँट फटकार सुनाने के लिये जो उपक्रम रचते हैं वह किसका मन रंजित नहीं कर देता -

मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायौ।
मो सों कहत मोल को लीन्हों तोहि जसुमति कब जायौ।

धूल-धूसरित कृष्ण की शोभा देखने लायक है -

सोभित कर नवनीत लिये।
घुटरुन चलत रेनु तन, मंडित मुख दधि लेप किए।

आचार्य शुक्ल ने ठीक ही कहा है - "शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहाँ तक इनकी दृष्टि पहुँची वहाँ तक और किसी कवि की नहीं।"

वात्सल्य के समान ही भ्रमरगीत में कवि ने शृंगार के योग और वियोग पक्षों का अनूठा वर्णन किया है। श्रीकृष्ण की विरहाग्नि में जलती हुई गोपियों को वृन्दावन के हरे भरे पेड़ नहीं सुहाते, वे उन्हें कोसती हैं -

मधुबन ! तुम कत रहत हरे।
बिरह बियोग श्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे ?

विरह के दावानल में झुलसी गोपियों की वाग्विदग्धता द्रष्टव्य है, जब निर्गुण ब्रह्म का उपदेश उद्धव बाबा देते हैं। वे कहती हैं -

निर्गुन कौन देस को वासी ?
मधुकर हँसी समुझाय, सौंह दै बूझति साँच, न हाँसी।।

शुक्ल जी के शब्दों में - "भ्रमरगीत सूर-साहित्य का मुकुटमणि है। यदि वात्सल्य और शृंगार के पदों को निकाल भी दिया जाय तो हिन्दी साहित्य में सूर का नाम अमर रखने के लिए भ्रमरगीत ही काफी है।"

प्रश्न 26. भक्तिकाल की सामान्य विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर - हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल को 'स्वर्ण युग' कहा जाता है। साहित्यिक वैभव की दृष्टि से यह युग सम्पन्न रहा है। इस युग के तपःपूत साहित्यिक मनीषियों ने अपनी त्रिवेणी में भारतीय जन-मानस को स्नान कराकर उन्हें अपनी संस्कृति-रक्षा हेतु उद्‌बोधित किया। ये भक्त एवं संत कवि केवल कंठी-माला फेरने वाले ही नहीं थे, बल्कि जन-मानस में जागरण-मंत्र फूँक उन्हें अपने कर्त्तव्य-मार्ग पर अग्रसर होने का भी अमर संदेश देते रहे।

इस प्रकार उस युग की अपार साहित्यश्री को देखते हुए उसकी निम्नलिखित विशेषताएँ अंकित की गयी हैं -

(1) भक्ति-भावना का प्राधान्य - यद्यपि इस युग में ज्ञानाश्रयी, प्रेमाश्रयी, कृष्णभक्ति शाखा एवं रामभक्ति शाखा नामक भक्ति भावना की चार शाखायें पायी जाती हैं, फिर भी चारों शाखाओं के कवियों का मूल उद्देश्य भक्ति-भावना का प्रदर्शन ही रहा है। भक्ति की तन्मयता इस युग के कवियों की मूल विशेषता रही है। संत कबीर ने कहा है - "हरि भक्ति जाने बिना बूड़ि मुआ संसार।" प्रेममार्गी कवियों का प्रेम भी भक्ति का ही मार्ग है। तुलसी ने ज्ञान और भक्ति में समन्वय स्थापित करते हुए लिखा है - "ज्ञानहिं भक्तिहिं नहि कछु भेदा, उभय हरहिं भव सम्भव खेंदा।" फिर भी उन्होंने भक्ति को ही प्रधानता दी है। सूर ने गोपियों द्वारा उद्धव के विचारों का खंडन कराकर भक्ति की ही प्रतिष्ठा की है।

(2) गुरु महिमा - कबीर ने गुरु और गोविन्द में गुरु को श्रेष्ठ बतलाते हुए कहा है - "गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागू पाँय, बलिहारी गुरु आपनो जिन गोविन्द दियो बताय।" जायसी ने गुरु को पथ-प्रदर्शक बतलाते हुए कहा है - "गुरु सुआ जेहि पंथ देखावा, बिन गुरु जगत को निरगुन पावा।" गोस्वामी जी ने तो गुरु को नर रूप में भगवान ही बतलाया है - "बंदउँ गुरु पद कंज कृपा सिंधु नर रूप हरि।" सूर ने गुरु के नख-ज्योति के बिना सारे संसार को अंधकारमय बतलाया है - "गुरु बल्लभ नख चन्द्र छटा बिन सब जग माहिं अँधेरो।"

इस प्रकार सभी संत भक्त कवियों ने गुरु के महत्त्व को स्वीकार किया है।

(3) नाम की महत्ता - ईश्वर के नाम जप की महत्ता अपार है। कबीर ने राम नाम के अक्षय भण्डार पर अतिशीघ्र अधिकार करने की घोषणा की है - "लूटि सके तो लूटियौ राम-नाम भंडार।" सूफियों एवं कृष्ण भक्तों में कीर्तन की प्रधानता है। सूर ने गाया है - "भरोसौ नाम कौ भारी।" गोस्वामी जी ने तो ब्रह्म

राम से भी नाम-जाप को बड़ा माना है - "ब्रह्म राम ते नामु बड़, बरदायक बरदानि।"

(4) अहंकार का त्याग - अहंकार को त्यागे बिना ईश्वर के दर्शन नहीं हो सकते। कबीर ने कहा है - "जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।" इन कवियों ने अहंकार को सभी पापों की जड़ एवं भक्ति मार्ग का बाधक बतलाया है। गोस्वामी जी के अनुसार अहंकार के कारण ही पार्थ लूटे गये - 'वचन कहे अभिमान के पारथ पेखत संतु, प्रभु तिय लूटत नीच भर जय न मीचु तेहिं हेतु।'

(5) सत्संग की महिमा - सत्संग की महिमा को बतलाते हुए संत कबीर ने कहा है - "कबिरा संगति साधु की हरै और की व्याधि, संगति बुरी असाधु की आठो पहर उपाधि।" सूर ने हरि-विमुख लोगों की संगति छोड़ देने के लिये कहा है - "तजौ रे मन हरि विमुखन कौ संग।" गोस्वामी जी के अनुसार सत्संगति पाकर दुष्ट व्यक्ति भी वैसे ही सुधर जाते हैं जिस प्रकार पारसमणि के स्पर्श से कुधातु भी स्वर्णमय हो जाता है - "सठ सुधरहिं सत्संगति पाई, पारस परसि कुधातु सुहाई।" इस प्रकार सत्संग की महिमा अपार है।

(6) आडम्बर का खण्डन - कबीर ने बाह्याडम्बरों एवं बाह्याचारों को भक्तिमार्ग का बाधक बतलाया है। उसी प्रकार तुलसीदास ने भी अशिक्षित एवं धनलोलुप तथा धार्मिक आडम्बर रखने वाले व्यक्तियों पर कुठाराघात किया है।

(7) नारी-भावना - संत एवं भक्त कवियों ने नारी को भक्तिमार्ग का बाधक बतलाया है, परन्तु पतिव्रता नारियों की प्रशंसा भी की है। कबीर ने कहा है - 'नारी की झाई परत अंधा होत भुजंग।' परन्तु वे पतिव्रंता नारी के रूप पर कोटि स्वरूपों को भी न्योछावर कर देते हैं। गोस्वामी जी की नारी भावना भी ऐसी ही रही है। जायसी ने नागमती को एक ओर 'दुनिया धंधा' कहा है तो दूसरी ओर 'पद्मावती' को ईश्वर का प्रतिरूप माना है। इस प्रकार इन कवियों की नारी सम्बन्धी दृष्टि समन्वयात्मक रही है।

(8) माया का त्याग - कबीर ने माया को 'महा ठगिनी' कहा है। माया को त्यागे बिना ईश्वर प्राप्ति सुलभ नहीं है। गोस्वामी जी ने नारी को माया की साक्षात् मूर्ति मानते हुए कहा है -

काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि।।

इसी प्रकार जायसी एवं सूर ने भी प्रकारान्तर से माया को साधना मार्ग

का बाधक बतलाया है।

इस प्रकार भक्तियुग की यही प्रमुख विशेषताएँ रही हैं। इन्हीं सारी विशेषताओं के कारण बाबू श्याम सुन्दर दास ने कहा है - "जिस युग में कबीर, जायसी, सूर, तुलसी जैसे सुप्रसिद्ध कवियों और महात्माओं की दिव्यवाणी अंतःकरण से निकलकर देश के कोने-कोने में फैली थी, उसे साहित्य के इतिहास में सामान्यतः भक्तियुग कहते हैं। निश्चय ही वह हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग था।"

स्मरणार्थ

भक्तिसाहित्य की विभिन्न शाखाएँ

भक्तिकाल

निर्गुण धारा		सगुण धारा	
ज्ञानाश्रयी शाखा	प्रेमाश्रयी शाखा	कृष्ण भक्ति शाखा	रामभक्ति शाखा

प्रमुख कवि एवं रचनाएँ

	कवि	ग्रंथ
ज्ञानाश्रयी-	कबीरदास,	कबीर ग्रंथावली, बीजक,
	रैदास, दादू, सुन्दरदास	फुटकल रचनाएँ
प्रेमाश्रयी-	जायसी	पद्मावत, अखरावट, आखिरी कलाम, कहरनामा।
	कुतुबन	मृगावती
	मंझन	मधुमालती
कृष्णभक्ति-	सूरदास	सूरसागर, सूरसारावली, साहित्य लहरी।
रामभक्ति-	तुलसीदास	रामचरित मानस, विनय पत्रिका, कवितावली, दोहावली, गीतावली, बरवै रामायण, हनुमान बाहुक, आदि।

प्रश्न 27. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए - कबीर, जायसी, पद्मावत, सूरदास, तुलसीदास।

उत्तर - कबीरदास - कबीर एक महान संत थे। कहा जाता है कि एक समय स्वामी रामानन्द जी ने एक विधवा ब्राह्मणी को पुत्रवती होने का आशीर्वाद दे दिया था। फलस्वरूप उस ब्राह्मणी को एक पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई, परन्तु लोक-लाज वश वह उसे काशी के पास लहरतारा तालाब के निकट फेंक आयी। यह घटना ज्येष्ठ पूर्णिमा सन् 1398 ई. की है। नीरू और नीमा नामक एक जुलाहे दम्पति की नजर उस नवजात शिशु पर गयी और वे अपने यहाँ लाकर उसका पालन-पोषण करने लगे। आगे चलकर वही बालक संत कबीर के नाम से विख्यात हुआ।

सन्त कबीर रामानन्द के शिष्य थे। कहा जाता है कि एक समय स्वामी रामानन्द गंगा जी में स्नान करने जा रहे थे तो उनके पैर सीढ़ियों पर लेटे हुए कबीर पर पड़े। वह ऐसा कहकर कि 'राम नाम' कह आगे बढ़ गये। कबीर ने इसी को अपना गुरु-मंत्र मान लिया। ऐसी लोक प्रसिद्धि है कि लोई नामक एक कन्या के साथ उनकी शादी भी हुई थी और उससे कमाल नाम का एक पुत्र तथा कमाली नाम की एक पुत्री उत्पन्न हुई थी। यद्यपि कबीर पढ़े-लिखे न थे फिर भी सत्संग के प्रभाव से उन्हें अच्छा ज्ञान था। उनके शिष्य उनकी वाणियों को संकलित करते गये। 'कबीर ग्रंथावली' में इनकी रचनायें संगृहीत हैं।

कबीर निर्गुण निराकार ब्रह्म के उपासक थे। वे मूर्ति पूजा, तिलक लगाना, दाढ़ी बढ़ाना, माला फेरना आदि धार्मिक बाह्याडम्बरों के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने एक जगह कहा भी है -

माला फेरत जुग गया गया न मनका फेर।
करका मन का डारि कै मनका मनका फेर।।

उनकी रचनाओं में हिन्दू और इस्लाम धर्म के आडम्बरों पर तीखा व्यंग्य किया गया है। इनकी रचनाएँ 'बीजक' एवं 'कबीर ग्रंथावली' हैं। 'कबीर ग्रंथावली' में तीन प्रकार की रचनाएँ हैं - साखी, सबद और रमैनी।

कबीर एक सच्चे जन-नेता एवं समाज सुधारक थे। वे जाति-पाँति विहीन एवं धार्मिक रूढ़ियों तथा आडम्बरों से रहित समानता के सिद्धान्त पर आधारित एक सच्चे समाज के निर्माण के लिए आजीवन आवाज उठाते रहे। उनके प्रखर व्यक्तित्व के सम्बन्ध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है - "हिन्दी साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक

उत्पन्न नहीं हुआ। महिमा में नहीं व्यक्तित्व में केवल एक ही प्रतिद्वंद्वी जानता है, तुलसीदास।"

कबीर की भाषा को 'सधुक्कड़ी भाषा' कहा गया है जिसमें विभिन्न भाषाओं का समायोजन है। उनकी मृत्यु सन् 1449 ई. के लगभग मानी जाती है।

जायसी – जायसी का पूरा नाम मलिक मुहम्मद जायसी था। ये जायस के रहने वाले थे इसीलिए इनका नाम जायसी पड़ा। जायसी के जन्म-वर्ष सम्बन्धी विद्वानों में मतभेद है। इनकी पुस्तक 'आखिरी कलाम' की एक पंक्ति के अनुसार इनका जन्म सन् 1494 के लगभग ठहरता है। इनका जन्म स्थान अनुमानतः बिहार प्रान्त के अंतर्गत सहसराम है। बाद में रायबरेली जिलान्तर्गत जायस में रहने के कारण इनका नाम जायसी पड़ा।

जायसी अपने समय के सिद्ध फकीर थे। अमेठी राजघराने में इन्हें बहुत सम्मान प्राप्त था। कदाचित शीतला के प्रकोप से ये अपनी एक आँख खो चुके थे और कान से भी बहरे हो गये थे। इस प्रकार ये देखने में कुरूप थे। कहा जाता है कि एक बार शेरशाह इनके रूप को देखकर हँसा था, तब शेरशाह से इन्होंने पूछा था – "आप मुझ पर हँस रहे हैं या मुझे बनाने वाले पर ?"

देखने में ये जितने ही कुरूप थे, इनका हृदय उतना ही सुन्दर एवं पवित्र था। ये हिन्दू-मुस्लिम की साम्प्रदायिकता से ऊपर उठकर सदैव अपने उदार विचारों को अभिव्यक्त करते रहे। मुसलमान सूफी फकीर होते हुए भी इन्होंने हिन्दू के घरों की परंपराओं एवं रीति-रिवाजों का अपने ग्रंथ में बहुत ही क्रमबद्ध विवेचन किया है। इनकी लिखी हुई तीन पुस्तकें प्राप्त हैं- पद्मावत, अखरावट एवं आखिरी कलाम। 'पद्मावत' में महारानी पद्मावती एवं राजा रतनसेन से सम्बन्धित कथानक है। 'अखरावट' में वर्णमाला के एक-एक अक्षर को लेकर सिद्धान्त भरी तत्त्वों से युक्त चौपाइयाँ कही गयी हैं। और 'आखिरी कलाम' में कयामत का वर्णन है।

पद्मावत एवं इनके अन्य ग्रंथों की भाषा अवधी है। चौपाई एवं दोहे इनके काव्य के प्रमुख छन्द हैं। भाव, भाषा एवं वस्तु वर्णन की दृष्टि से 'पद्मावत' हिन्दी का एक उत्कृष्ट एवं अपनी परम्परा का सर्वश्रेष्ठ काव्य ग्रंथ है।

पद्मावत – पद्मावत हिन्दी साहित्य का एक उत्कृष्ट महाकाव्य है। मूल रूप से इस ग्रंथ का पूर्वार्द्ध काल्पनिक एवं उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक है। इसका **कथा**-सूत्र इस प्रकार है –

सिंहल द्वीप के राजा गंधर्व सेन की कन्या पद्मावती रूप एवं गुण में

अद्वितीय थी। उसके योग्य वर कहीं नहीं मिलता था। पद्मावती के पास हीरामन नाम का एक सुआ (तोता) था। एक दिन वह पद्मावती से उसके वर न मिलने के सम्बन्ध में कुछ कह रहा था तब तक राजा ने सुन लिया और उसका वध करने के लिए आदेश दे डाला। डर से वह उड़ गया और एक बहेलिए द्वारा पकड़ा गया। बहेलिए ने चित्तौड़ के एक ब्राह्मण व्यापारी के हाथ उसे बेच दिया। चित्तौड़ के राजा रतनसेन ने उस ब्राह्मण से एक लाख रुपये में उस सुए को खरीद लिया।

एक दिन सुए द्वारा पद्मिनी की रूप-चर्चा सुनकर राजा मूर्छित हो गिर पड़ा। होश आने पर वह योगी वेश धारण कर सिंहल द्वीप की ओर चल दिया। हीरामन सुआ राजा का मार्गदर्शन कराते हुए उसे सिंहल ले गया। इधर हीरामन तोते के द्वारा रतनसेन के बारे में जानकर पद्मिनी वसंत पंचमी के दिन मंदिर में पूजन के बहाने उससे मिलने के लिए आई। पर ऐन मौके पर राजा पुनः पद्मावती की सुन्दरता पर मुग्ध हो बेहोश हो गया। होश आने पर राजा रतन सेन अपने साथ लाए हुए राजकुमारों सहित सिंहल द्वीप पर आक्रमण किया एवं बहुत संघर्ष करने के पश्चात् पद्मावती को प्राप्त कर वह चित्तौड़ आ गया।

रानी पद्मावती के रूप लावण्य की प्रशंसा सुन अलाउद्दीन ने उसे प्राप्त करने के लिये चित्तौड़ पर आक्रमण किया और भीषण संघर्ष के बाद रतनसेन को बंदी बनाकर दिल्ली ले गया। वहाँ से गोरा और बादल नामक रतनसेन के सैनिक कपट द्वारा रतनसेन को छुड़ा लाए। चित्तौड़ आने पर पद्मिनी ने रतनसेन से कुंभलनेर के राजा देवपाल द्वारा दूती भेजने की बात कही जिसे सुनकर राजा रतनसेन ने कुंभलनेर पर आक्रमण कर दिया। लड़ाई में देवपाल और रतनसेन दोनों मारे गये।

रतनसेन का शव चित्तौड़ लाया गया। उनकी दोनों रानियाँ नागमती और पद्मावती हँसते-हँसते चिता पर जल मरीं। पुनः पद्मिनी को प्राप्त करने के लिए जब अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया तब वहाँ राख के ढेर के सिवा और कुछ न मिला।

इस प्रकार 'पद्मावत' में राजा रतनसेन एवं रानी पद्मावती की प्रेमगाथा बहुत ही सरस एवं सुबोध शैली में लिखी गयी है। परन्तु एक ओर जहाँ यह प्रेम विषयक कहानी है वहीं इसमें रहस्यवाद की भी अद्भुत छटा विराजमान है। जायसी ने पद्मावती को ब्रह्म के रूप में, रतनसेन को साधक एवं सुए को गुरु का प्रतीक मान अपनी रहस्य भावना प्रकट करते हुए एक बहुत ही रोचक रूपक शैली का उदाहरण प्रस्तुत किया है –

तन चितउर, मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुधि पद्मिनि चीन्हा।
गुरू सुआ जेई पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा।
नागमती यह दुनिया धंधा। बाँचा सोइ न एहि चित बंधा।
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउदीन, सुलतानू।

यद्यपि पद्मावत की रचना फारसी की मसनवी शैली पर है, पर शृंगार, वीर आदि के वर्णन में कवि ने भारतीय काव्य परम्परा का अनुकरण किया है।

सारांशतः कवि ने इस प्रेम काव्य के माध्यम से धार्मिक एकता एवं आध्यात्मिक मिलन पर बल दिया है। पद्मावत विशुद्ध साहित्यिक कृति है। इसकी भाषा अवधी है। कहीं-कहीं ब्रज, अपभ्रंश एवं संस्कृत तथा फारसी भाषा के शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। इसके मुख्य छन्द दोहा एवं चौपाई हैं। इसकी भाषा अत्यन्त सरस एवं सुबोध है। वास्तव में पद्मावत हिन्दी साहित्य का गौरव-ग्रंथ है।

सूरदास - अष्टछाप-शिरोमणि भक्त सूरदास का जन्म एक सारस्वत ब्राह्मण परिवार में दिल्ली के निकट 'सीही' नामक ग्राम में हुआ था। इनके जन्म के सम्बन्ध में बहुत से मतभेद प्रचलित हैं। कुछ प्रमाणों के अनुसार सूरदास का जन्म आगरा और मथुरा के बीच 'रुनकता' नामक ग्राम में भी माना जाता है। इनके पिता का नाम बाबा रामदास कहा जाता है। विद्वानों का अनुमान है कि सूरदास जन्मान्ध नहीं थे।

भक्त कवि सूरदास कृष्ण के अनन्य उपासक थे। अतः ये कृष्ण सम्बन्धी भक्ति-पद बनाकर गाया करते थे। बाद में चलकर ये स्वामी बल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग में दीक्षित हो गये और उन्हीं के आदेशानुसार विनय एवं भक्ति के पद रचने लगे। सूरदास कृष्णभक्त पहले थे कवि बाद में। उनकी रचनाओं में भक्ति सम्बन्धी पदों के अतिरिक्त श्रृंगार एवं वात्सल्य रसों का भी पूर्ण परिपाक हुआ है। आचार्य शुक्ल जी के अनुसार - "वात्सल्य और श्रृंगार के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बंद आँखों से किया उतना किसी और ने नहीं। इन क्षेत्रों का कोना-कोना वे झाँक आये हैं।"

सूर की भाषा शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा है। उनकी तीन रचनाएँ अधिक प्रामाणिक रूप में मिलती हैं - सूरसागर, साहित्य लहरी और सूरसारावली। सूरसागर को यदि गीतों का सागर कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। इसमें एक ही साथ विनय, वात्सल्य, उपालम्भ एवं विप्रलम्भ श्रृंगार की अद्भुत छटा मिलती है। इनकी मृत्यु ब्रज प्रदेश के निकट 'पारसोली' नामक ग्राम में हुई।

तुलसीदास - गोस्वामी तुलसीदास के जन्म के संबंध में विद्वानों में काफी मतभेद हैं। 'मूलगोसांई चरित' नामक ग्रन्थ के अनुसार तुलसीदास की जन्म तिथि श्रावण शुक्ला सप्तमी संवत् 1554 है। इनका जन्म स्थान कुछ विद्वानों के अनुसार राजापुर तथा कुछ विद्वानों के अनुसार सोरों में बताया जाता है। तुलसीदास जी की माता का नाम हुलसी एवं पिता का नाम आत्माराम दुबे था। इनका जन्म मूल नक्षत्र में हुआ था और जन्म के समय ही इनके मुँह में बत्तीसों दाँत मौजूद थे, अतः अनिष्ट के भय से इनके माता-पिता ने इन्हें त्याग दिया।

बड़े होने पर धीरे-धीरे तुलसी का सम्पर्क बाबा नरहरिदास से हुआ। उन्होंने काशी में तुलसी का यज्ञोपवीत संस्कार किया और वहीं पर महात्मा शेष सनातन जी के आश्रम में रहकर वे वेद, वेदांग, इतिहास, दर्शन, पुराण आदि के अध्ययन में लग गये। 15 वर्ष तक अध्ययन करने के पश्चात् वे अपनी जन्मभूमि राजापुर में आए। वहीं पर पं. दीनबंधु पाठक की पुत्री रत्नावली से उनका विवाह हो गया। विवाहोपरान्त पत्नी के प्रति ये इतने आसक्त हो गये कि उन्हें एक बार फटकार भी सुननी पड़ी थी। फलस्वरूप विरक्त हो चित्रकूट, अयोध्या और काशी के अतिरिक्त अन्य तीर्थस्थानों का भ्रमण किया, और पुनः अयोध्या में आकर वहीं रामचरित मानस की रचना आरम्भ किया।

उनकी प्रमुख रचनाएँ इस प्रकार हैं - रामचरित मानस, कवितावली, गीतावली, दोहावली, विनयपत्रिका, बरवै रामायण, हनुमान बाहुक, जानकी-मंगल, पार्वती-मंगल आदि।

रामचरित मानस में उनकी समन्वय की विराट चेष्टा को देखकर जार्ज ग्रियर्सन ने उन्हें गौतम बुद्ध के बाद भारत का सबसे बड़ा लोकनायक कहा था। तुलसीदास का निधन संवत् 1680, श्रावण सुदी 3, शनिवार को हुआ था।

प्रश्न 28. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए - रामचरितमानस, सूरसागर, पुष्टिमार्ग, अष्टछाप।

उत्तर - रामचरित मानस - 'रामचरित मानस' हिन्दी साहित्य का सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य है। इस महाकाव्य की रचना चैत्र शुक्ला नवमी मंगलवार को सं. 1631 वि. में हुई थी। गोस्वामी जी ने इसके सम्बन्ध में 'मानस' में स्वयं लिखा है -

संवत् सोलह सौ इकतीसा। करउँ कथा हरिपद धरि सीसा।।
नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी वह चरित प्रकासा।।

गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस की रचना 'स्वांतः सुखाय' से

प्रेरित होकर की थी परन्तु उनकी यह रचना सुरसरि गंगा के समान पावन और सबके लिए कल्याणकारी साबित हुई। जिस समय तुलसीदास का साहित्यिक रंगमंच पर प्रादुर्भाव हुआ उस समय समाज में विभिन्न प्रकार के अंधविश्वास, साम्प्रदायिकता, धार्मिक संकीर्णता एवं जाति-पाँति, छुआ-छूत आदि की भावना बढ़ी हुई थी। ये सभी सामाजिक भावनाएँ तुलसीदास के मर्म पर आघात करती रहीं। समाज व। ऐसी विषम एवं पतनोन्मुख स्थिति में गोस्वामी जी ने परमब्रह्म राम को अपना चरित नायक चुनकर आदर्श एवं नैतिकता से परिपूर्ण रामचरित मानस की रचना की।

रामचरित मानस में भगवान राम के अवतार से लेकर उनके उपनयन, विद्या अर्जन, विवाह, वनगमन, रावण से युद्ध एवं पुनः विजय प्राप्त कर अयोध्या आगमन की कथा बहुत ही मार्मिक एवं प्रभावोत्पादक रूप में प्रस्तुत की गयी है। उनके राम दुष्टों के दलनकर्ता एवं सज्जनों के हितकारी हैं।

इस ग्रंथ में सात काण्ड हैं - बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, लंकाकाण्ड और उत्तरकाण्ड। प्रस्तुत ग्रंथ में तुलसीदास ने प्रचलित सभी मत-मतांतरों के बीच समन्वय स्थापित किया है। उनकी इसी समन्वयकारी दृष्टि को देखते हुए जार्ज ग्रियर्सन ने उन्हें बुद्धदेव के पश्चात् सबसे बड़ा लोकनायक कहा है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में - "रामचरित मानस शुरू से आखिर तक समन्वय का काव्य है।"

रामचरितमानस की मुख्य भाषा अवधी है। इस ग्रंथ में मुख्य रूप से दोहा, चौपाई एवं सोरठा छन्द व्यवहृत हुए हैं। संक्षेप में, यह हिन्दी साहित्य का गौरव ग्रंथ है।

सूरसागर - सूरसागर सूरप्रणीत गीति काव्य परम्परा की सर्वोत्कृष्ट कृति है। इसीलिए कुछ विद्वानों ने इसे गीतों का सागर तक कह दिया है। इस ग्रन्थ में लगभग सवा लाख पद हैं।

सूरसागर के सभी पद द्वादश स्कन्धों या अध्यायों में विभक्त हैं। बहुत से विद्वानों ने सूरसागर को श्रीमद्भागवत् का अनुवाद बतलाया है परन्तु भागवत् एवं सूरसागर में कुछ ऐसी भिन्नताएँ देखी जाती हैं जिनके आधार पर इसे भागवत् का सर्वांशतः अनुवाद नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ भागवत् में राधा थोड़े समय के लिए एक विशिष्ट गोपी के रूप में आती है, परन्तु सूरसागर में राधा और कृष्ण के प्रेम से संबंधित बचपना एवं युवावस्था की अनेक झाँकियाँ मिलती हैं। पुष्टिमार्ग में राधा को बहुत महत्त्व दिया गया है और एक पुष्टिमार्गी भक्त होने के कारण सूर ने अपने ग्रंथ में राधा को विशिष्ट स्थान प्रदान किया है।

सूरसागर में कृष्ण की बाल्यावस्था का जो अनूठा एवं मार्मिक वर्णन सूर ने किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसमें सूर ने बालक कृष्ण की समस्त चेष्टाओं एवं भाव-भंगिमाओं का मनोमुग्धकारी वर्णन प्रस्तुत किया है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में - ''वात्सल्य रस का जितना अधिक वर्णन सूर ने अपनी बंद आँखों से किया उतना किसी अन्य कवि ने नहीं।'' इसीलिए आलोचकों ने 'सूर का नाम वात्सल्य और वात्सल्य का नाम सूर' तक रख दिया।

कृष्ण के मथुरा गमनोपरान्त गोपियों की विरहावस्था का जो चित्रण सूरदास ने किया है वह अन्यत्र बहुत कम देखने को मिलता है। वात्सल्य के अतिरिक्त विप्रलंभ एवं संयोग श्रृंगार के उत्कृष्ट उदाहरण सूरसागर में भरे पड़े हैं। गोपियों को निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देने आये उद्धव को जब गोपियाँ उपालम्भ देने लगती हैं तो वे अपनी ज्ञान गरिमा को भूल बैठते हैं। यहाँ निर्गुण ब्रह्म पर सगुण की विजय दिखलाई गयी है। सूरसागर की भाषा ब्रजभाषा है जो अत्यन्त ही सरस, मार्मिक एवं प्रभावकारी है।

पुष्टिमार्ग - पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक स्वामी बल्लभाचार्य माने जाते हैं। उन्होंने अपने ग्रंथ 'अणुभाष्य' में पुष्टि मार्ग की विशद व्याख्या की है। भक्ति साहित्य में 'पुष्टि' शब्द का प्रयोग सेवा के अर्थ में किया जाता है। अतः पुष्टिमार्ग का अर्थ 'सेवामार्ग' भी है अर्थात् भक्ति का वह मार्ग पुष्टिमार्ग कहलाता है जिसके द्वारा सेवा करते हुए भगवान की कृपा या अनुग्रह प्राप्त किया जा सके।

स्वामी बल्लभाचार्य ने इसकी स्पष्ट व्याख्या करते हुए लिखा है - ''पुष्टि मार्गोऽनुग्रहैक-साध्यः' अर्थात् पुष्टिमार्ग भगवान के अनुग्रह से ही साध्य है। श्री हरिराय जी के शब्दों में - ''जिस मार्ग में सर्वसिद्धियों का हेतु भगवान् का अनुग्रह ही है, जहाँ देह के अनेक सम्बन्ध ही साधन रूप बनकर भगवान की इच्छा के बल पर फल रूप सम्बन्ध बनते हैं, जिस मार्ग में भगवत् विरहावस्था में भगवान् की लीला के अनुभव मात्र से संयोगावस्था का सुख अनुभूत होता है और जिस मार्ग में भावों में लौकिक विषय का त्याग है तथा उन भावों के सहित देहादि का भगवान् को समर्पण है, वह पुष्टिमार्ग कहलाता है।''

डॉ. दयानन्द श्रीवास्तव ने पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों को निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया है -

(क) भक्ति के लिए भगवान् का अनुग्रह अनिवार्य है।

(ख) भक्ति ही मुक्ति का एकमात्र साधन है।

(ग) राधा कृष्ण की आत्मशक्ति है।

(घ) श्रीकृष्ण का बाल-रूप एवं राधाकृष्ण का माधुर्य भाव से प्रेरित रूप ही उपास्य है।

(ङ) भक्ति दो प्रकार की होती है - (i) मर्यादा भक्ति और (ii) पुष्टि भक्ति। पुष्टि भक्ति साधन निरपेक्ष है जो भगवान् के अनुग्रह पर आधारित है।

(च) पुष्टि के चार रूप हैं - (i) प्रवाह पुष्टि-अर्थात् संसार के मध्य ही भक्ति करना। (ii) मर्यादा पुष्टि - संसार से आकर्षित रहकर कृष्ण का गुणगान करना। (iii) पुष्टि-पुष्टि-कृष्ण के अनुग्रह से प्राप्त भक्ति। (iv) शुद्ध पुष्टि - केवल प्रेम-अनुग्रह के आधार पर कृष्ण का अनुग्रह प्राप्त करना।

वस्तुतः पुष्टिमार्ग भक्ति पद्धति माधुर्य-भावना की भक्ति-पद्धति। इसमें कृष्ण के वात्सल्य एवं राधाकृष्ण के युगल रूप की महत्ता है।

अष्टछाप - अष्ट का अर्थ होता है - आठ। हिन्दी के आठ शीर्षस्थ कृष्णभक्त कवियों ने कृष्णभक्ति में अपनी निष्ठा एवं भक्ति की तन्मयता की जो छाप लगायी उसे ही कृष्णभक्ति साहित्य में 'अष्टछाप' के नाम से जाना जाता है। बल्लभाचार्य के पुत्र स्वामी विट्ठलनाथ जी ने सर्वोत्तम आठ भक्त कवियों को चुनकर 'अष्टछाप' की प्रतिष्ठा की। ये कविगण हैं - सूरदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास, कृष्णदास, गोविन्द स्वामी, छीतस्वामी, चतुर्भुजदास तथा नन्ददास।

वास्तव में "अष्टछाप हिन्दी की अष्टधातु की मुद्रा है, जिसकी अमिट छाप हिन्दी भाषा और साहित्य पर बहुत गहरी है।"

अष्टछाप के कवियों का साहित्यिक एवं धार्मिक मूल्य ही नहीं है बल्कि इनका सामाजिक मूल्य भी काफी है। इन कवियों ने पारस्परिक विद्वेष, घृणा को त्यागकर विभिन्न जाति के भक्तों को कृष्ण के श्यामल रंग में रंग कर संकीर्तन, की मधुर अनुगूँज से जनसाधारण के हृदय में भक्ति की तन्मयता घोल दी और भक्ति-निष्प्राण व्यक्तियों के हृदय को भक्ति की झंकार से स्पन्दित किया है।

अष्टछाप के कवियों की सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं - (1) इन कवियों ने निर्गुण ब्रह्म की जटिल भक्ति साधना के स्थान पर मधुर भावना से सगुण भक्ति पर जोर दिया। (2) अष्टछाप के सभी कवि संगीत मर्मज्ञ थे। अतः उन्होंने विभिन्न राग-रागनियों में संगीतमय पदों की रचना की। (3) हिन्दू संस्कृति के पतन-काल में इन कवियों ने हिन्दुओं को अपनी संस्कृति से अवगत कराया। (4) ब्रजभाषा को साहित्यिक रूप प्रदान करने में इन कवियों का बहुत महत्त्व है। (5) इन कवियों ने वात्सल्य एवं भक्तिरस की अबाध स्रोतस्विनी प्रवाहित की। संक्षेप में, इन कवियों का महत्त्व अक्षुण्ण है।

रीतिकाल (श्रृंगार काल)

सं. 1700 से 1900 तक (सन् 1643 ई. से 1843 तक)

प्रश्न 29. रीतिकाल की विभिन्न परिस्थितियों का विवेचन करें।

उत्तर - भक्तिकाल में जहाँ कविता कामिनी देवताओं के स्तुति गायन में व्यस्त रही, रीतिकाल में वही श्रृंगारिकता के लिबास में लिपटकर विलासिता की कहानी कहने लगी। अकबर के शासनकाल के शांतिपूर्ण वातावरण में भक्तिपरक कविताएँ खूब फली फूलीं परन्तु सम्राट् जहाँगीर के शासन काल से लेकर औरंगजेब तक की शासन व्यवस्था काफी विलासी, अशक्त एवं अस्तव्यस्त रही। अतः तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों से प्रभावित इस युग की रचनायें भी श्रृंगारिक ही रहीं। संक्षेप में हम उस युग की विभिन्न परिस्थितियों का वर्णन करेंगे -

(1) राजनीतिक परिस्थिति - आचार्य शुक्ल के अनुसार रीतिकाल का प्रारंभ सन् 1643 ई. से होता है। उस समय भारतवर्ष में सम्राट् शाहजहाँ का शासन काल था। सन् 1658 में शाहजहाँ की मृत्यु के बाद औरंगजेब गद्दी पर बैठा। उसने लगभग 50 वर्षों तक शासन किया। उसके शासन काल में ही मुगल सल्तनत की नींव डगमगाने लगी थी। इधर भारतीय जाट, राजपूत और मराठे उसकी सेना को नाकों दम-कर दिये थे। अब न मुगलों में ही कोई शक्तिशाली सम्राट् रह गया था न भारतीयों में ही। परिणामस्वरूप अच्छा अवसर देखकर ब्रिटिश व्यापार करने के बहाने भारत में आये और धीरे-धीरे यहाँ के राजनीतिक मामलों में भी दखल देने लगे। अतः सन् 1756 ई. में सिराजुद्दौला को पराजित करने के बाद अंग्रेज स्थायी रूप से भारत में शासन करने लगे।

इस प्रकार इस युग की राजनीतिक परिस्थिति प्रथमतः मुगलों और द्वितीयतः अंग्रेजों की शासन व्यवस्था से प्रभावित रही। शाहजहाँ पर्यन्त मुगल शासक विलासी एवं कला प्रेमी रहे अतः इस युग में श्रृंगारी रचनायें अधिक हुईं। औरंगजेब की भ्रष्ट शासन नीति की प्रतिक्रियास्वरूप राजपूत, जाट, मराठे उसके खिलाफ लड़ते रहे। अतः इन भारतीय राजाओं एवं वीरों के आश्रित कविगण इनकी शौर्य प्रशंसा करने लगे जिससे वीर रसात्मक काव्यों की भी सृष्टि होने लगी। अंग्रेजों की भ्रष्ट शासन नीति के विरुद्ध भी इस युग में कवियों के आक्रोशपूर्ण स्वर उभरने लगे थे।

(2) सामाजिक परिस्थिति - समाज मुख्यतः तीन वर्गों - उच्च, मध्यम और निम्न में विभक्त था। उच्च वर्ग के लोगों में सामन्त वर्ग के लोग थे। मध्यम

वर्ग में व्यापारी, मध्यस्तरीय कर्मचारी एवं मध्यम वेतनभोगी लोग थे। कृषक, मजदूर, दास एवं कर्मकार ये सभी निम्नवर्ग के व्यक्ति थे। निम्नवर्ग के लोग संख्या में अधिक थे, परन्तु इनकी अवस्था बिल्कुल जर्जर थी। एक तो ये लोग गरीब थे दूसरे इन पर विभिन्न प्रकार के करों के बोझ लदे थे। अकाल अथवा अन्य किसी संकटपूर्ण स्थिति में इनका जीवन अत्यन्त कष्टमय हो जाता था।

उस काल में हिन्दुओं में सतीदाह, बाल-विवाह, दहेज आदि कुप्रथाएँ जोरों पर थीं। इस युग की रचनाओं में सामाजिक स्थिति की सही झाँकी नहीं मिलती।

(3) धार्मिक परिस्थिति - धार्मिक दृष्टि से यह काल 'पतन का काल' था। भक्तिकाल में हिन्दू संस्कृति का जो पुनरुत्थान हुआ था, रीतिकाल में यह श्रृंगारिकता के दबाव से दबने लगा। हिन्दू संस्कृति के रक्षकों की आवाज मुगल सम्राटों की चाटुकारिता करने लगी थी। हिन्दू धर्म के पूजा स्थलों पर मुगलों की कटाक्षपूर्ण दृष्टि लगी हुई थी। मस्जिदों में मुल्ले निर्भीक होकर बाँग दे रहे थे, गिरजाघरों की स्थापना होने लगी थी परन्तु हिन्दू-मंदिर तोड़े जा रहे थे। यद्यपि देश के राजपूत, जाट, मराठे एवं उनके आश्रित कविगण हिन्दुत्व की रक्षा करने में डटे रहे, पर राष्ट्रीय एकता के अभाव में अंत तक वे सफल न हो सके।

इस युग के कविगण श्रृंगारिकता के मोह से इतने आवेष्ठित रहे कि राम और सीता भी उनकी दृष्टि में वासना के पुतले ही दिखाई देते थे। राधा-कृष्ण के बहाने श्रृंगारिकता का चित्रण करना जैसे इन कवियों का उद्देश्य ही बन गया था। इस काल के कविगण बुढ़ापे में थोड़ा भजन भाव कर लिया करते थे परन्तु युवावस्था में तो मस्ती के गीत ही गाते रहे।

(4) साहित्यिक परिस्थिति - इस युग के साहित्य में यद्यपि तत्कालीन सामाजिक स्थिति का चित्रण नहीं मिलता तथापि कला की दृष्टि से इस युग की साहित्यश्री सम्पन्न रही है।

इस युग में संस्कृत साहित्य के अनुकरण पर रीतिग्रंथ काफी तादाद में लिखे गये। चूँकि इस काल के अधिकांश प्रमुख कवि दरबारी थे, अतः राजमहलों की विलासि ता से प्रभावित हो ये श्रृंगारिक रचनाएँ करते रहे। इस युग में नीतिपरक एवं वीर रसात्मक रचनाएँ भी हुईं परन्तु वे अनुपात में बहुत कम रहीं।

इस युग के कवियों को रीतिबद्ध, रीतिमुक्त एवं रीतिसिद्ध नामक तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया। जो कवि काव्यशास्त्र की निश्चित परम्पराओं से बँधे हुए थे वे रीतिबद्ध कवि कहलाये तथा जो लक्षण ग्रंथों की रचना न कर

श्रृंगारिक एवं नीतिपरक रचनाओं में प्रवृत्त रहे उन्हें रीतिमुक्त कवि कहा गया। रीतिसिद्ध कवि लक्षण ग्रंथों के निर्माण में प्रवृत्त रहे जो मूलतः संस्कृत लक्षण ग्रंथ पर आधारित थे।

इस प्रकार रीति या श्रृंगारकाल विभिन्न राजनीतिक, सामाजिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों से प्रभावित रहा है। इस काल के साहित्य के अंतर्गत सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण भले ही कम हुआ हो, परन्तु साहित्यिक दृष्टिकोण से हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में इस काल का बहुत महत्त्वपूर्ण अवदान रहा है। इस काल के साहित्यिक वैभव को देखते हुए ही आचार्य शुक्ल ने कहा है - "हिन्दी काव्य अब पूर्ण प्रौढ़ता को पहुँच गया था।"

प्रश्न 30. रीतिकाल की सामान्य विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

अथवा

प्रश्न 31. श्रृंगारकाल की प्रमुख प्रवृत्तियों का विवेचन करें।

उत्तर - भक्तिकालीन साहित्य की अपेक्षा रीतिकालीन साहित्य अपनी अतिशय श्रृंगारिक प्रवृत्तियों के कारण लोकोन्मुख नहीं हो सका। यद्यपि इस युग में भी भक्तिपरक रचनाएँ हुईं परन्तु उनके मूल में श्रृंगारिकता ही अधिक रही। भक्तिपरक कवियों में धार्मिक भावना की प्रधानता थी, और कवित्व उनके लिए गौण वस्तु थी, इसके ठीक विपरीत श्रृंगारकालीन कवियों में कवित्व प्रधान हो गयी और भक्ति गौण। श्रृंगार के अतिरिक्त इस युग में नीति, भक्ति, वीर एवं हास्य सम्बन्धी रचनाएँ भी कम नहीं हुईं। अतः साहित्यश्री के क्षेत्र में यह युग काफी विकसित रहा।

इस प्रकार इस युग के विशाल साहित्यिक वैभव को देखते हुए इसकी निम्नलिखित विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं -

(1) श्रृंगारिकता - इस युग की कविता भक्ति की रामनामी चादर को उतार फेंक श्रृंगारिकता के सुरभित दुशाले को ओढ़ चुकी थी। श्रृंगार के दोनों पक्षों, संयोग एवं वियोग को इस युग के कवियों ने खूब उभारा। श्रृंगारिकता का खुमार इन कवियों के ऊपर इतना अधिक छाया रहा कि राधा और कृष्ण भी इनकी दृष्टि में वासना के पुतले बने रहे। राधा और कृष्ण तो बहाने मात्र रहे उनके माध्यम से भी श्रृंगारिक रचनाओं की ही प्रमुखता बनी रही। भिखारीदास की स्पष्ट घोषणा थी -

आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई।
न तु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है।।

ये कविगण लौकिक श्रृंगार वर्णन में ही दत्तचित्त रहे अतः इनके काव्यों में श्रृंगार एवं प्रेम के उत्कृष्ट उदाहरण नहीं मिलते। फिर भी श्रृंगारिकता की ओट में इन कवियों ने भाषा, छन्द एवं अलंकार की दृष्टि से साहित्य को जितना परिमार्जित एवं कलात्मक रूप प्रदान किया उसे भुलाया नहीं जा सकता।

(2) लक्षण ग्रंथों का निर्माण - इस युग में लक्षण ग्रंथों की रचना बहुत हुई। ये सभी लक्षण ग्रंथ प्रायः संस्कृत साहित्य के लक्षण ग्रंथों के अनुकरण पर हिन्दी में लिखे गये थे। हिन्दी के सर्वप्रथम लक्षण ग्रंथकार आचार्य केशवदास माने जाते हैं। आचार्य केशव के उपरान्त पं. चिन्तामणि त्रिपाठी के बाद से तो लक्षण ग्रंथ रचना की परिपाटी अबाध गति से चलने लगी। यद्यपि इस युग के कवियों में कवि होने के साथ-साथ आचार्यत्व प्राप्त करने की होड़ लगी रही परन्तु आचार्य होने के लिए जिस सूक्ष्म विवेचन एवं पर्यालोचन की शक्ति होनी चाहिए वह इस युग के कवियों में न थी।

इस युग के प्रमुख लक्षण ग्रंथों में केशवदास का 'कविप्रिया' एवं 'रसिक प्रिया', चिंतामणि का 'पिंगल', 'रसमंजरी', श्रृंगार मंजरी', 'काव्य प्रकाश', 'काव्य विवेक', मतिराम का 'छन्दसार', 'ललित ललाम', 'रसराज' एवं कुलपति मिश्र का 'रस रहस्य' आदि विशेष ख्याति प्राप्त हैं। इनके अतिरिक्त सुरपति मिश्र, श्रीपति, सुखदेव एवं भिखारीदास जैसे ख्यातिलब्ध लक्षण ग्रंथकार इस युग में हुए।

(3) काव्य रूप - लक्षण ग्रंथों के निर्माण एवं दरबारी प्रभाव के कारण इस युग के कवियों ने अधिकांशतः मुक्तक काव्य का प्रणयन किया। इसके अतिरिक्त भक्ति, नीति एवं अन्य विषयों के कवियों ने भी मुक्तक शैली का ही आश्रय लिया। परन्तु प्रबन्ध काव्य भी इस युग में कम नहीं लिखे गये। डॉ. इन्द्रपाल सिंह ने 'रीतिकाल के प्रमुख प्रबन्ध काव्य' नामक अपने शोध-प्रबन्ध में इस युग के ऐतिहासिक, पौराणिक एवं सूफी प्रेमाख्यानों पर आधारित 400 के लगभग प्रबन्ध काव्यों का उल्लेख किया है।

(4) अलंकार प्रियता - डॉ. भगीरथ मिश्र के अनुसार - "रीतिकाव्य की दूसरी प्रवृत्ति अलंकारिता है। विभिन्न अलंकारों से अपने वचन को सजाना इस युग का फैशन था।" इस युग के कविगण अपने को अलंकारों के मोह से उबार न पाते थे। अलंकारों की बहुलता के कारण कला-पक्ष में तो बहुत अधिक निखार आया लेकिन कहीं-कहीं स्वाभाविकता का भी हनन होने लगा।

(5) भक्ति भावनाश्रित काव्य - इस युग में भक्ति भावना से ओत-प्रोत दो

प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं। प्रथमतः उन कवियों की रचनाएँ जो लक्षण ग्रंथों एवं श्रृंगारपरक काव्यों के रचयिता होते हुए भी भक्तिपरक रचनाएँ करते रहे, जैसे - केशव, मतिराम, घनानंद, बिहारी। द्वितीयतः वे जो विशुद्ध रूप से भक्तपरक कवि रहे, जैसे - गुरु गोविन्द सिंह, भक्त नागरीदास, महाराज विश्वनाथ सिंह, संत चरनदास आदि।

यद्यपि राधा और कृष्ण के बहाने इस युग के कवि श्रृंगारिक रचनाएँ ही करते रहे, फिर भी कहीं-कहीं भक्ति की तल्लीनता दिखाई पड़ती है। कवि ग्वाल राधा-कृष्ण का श्रृंगारिक वर्णन करने के कारण अपने आपको दोषी मानते हुए क्षमा-याचना करते हैं -

श्रीराधा पद पद्म को, प्रनमि प्रनमि कवि ग्वाल।
छमवत है अपराध को, किबो जु कथन रसाल।।

(6) नीति सम्बन्धी काव्य - श्रृंगारकाल के प्रमुख नीति कवियों के रचयिताओं में गिरिधर कविराय, बाबा दीनदयाल गिरि, वृन्द, वैताल, घाघ, गोपालचन्द मिश्र आदि उल्लेखनीय हैं। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इनकी व्यापक लोक चेतना के संबंध में कहा है - "वस्तुतः साधारण हिन्दी भाषी जनता के सलाहकार प्रधानतः तीन ही रहे हैं - तुलसीदास, गिरिधर कविराय और घाघ। तुलसी धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में, गिरिधर कविराय व्यवहार और नीति के क्षेत्र में, घाघ खेतीबारी के मामले में।"

(7) वीर काव्य का प्रणयन - इस युग की कविता कामिनी एक ओर श्रृंगारिकता का लिबास पहने राजप्रासादों में मादकता घोलती रही तो दूसरी ओर हाथ में खड्ग थामे रणभूमि में भारतीयों की वीरता का गायन भी करती रही। लाल कवि का 'छत्र प्रकाश' पद्माकर का 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' जोधराज का 'हम्मीर रासो' एवं भूषण का 'शिवराज भूषण' वीरता से ओत-प्रोत रचनाएँ हैं।

(8) प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण - श्रृंगार के संयोग एवं वियोग पक्ष की मार्मिक अभिव्यक्ति के लिए रीतिकालीन कवियों ने प्रकृति को उद्दीपन विभाव के रूप में चित्रित किया है। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के शब्दों में - "श्रृंगारकाल जो हिन्दी का वास्तविक साहित्य काल था, ऋतु वर्णन की दृष्टि से पर्याप्त समृद्ध दिखाई देता है।" इस प्रकार रीतिकाल में प्रकृति को आलम्बन, मूर्तिकरण, मानवीकरण आदि रूपों में भी प्रस्तुत किया गया है।

(9) नारी भावना - इस युग के कवियों की नारी भावना बहुत ही संकीर्ण

रही। उसे विलासिनी एवं प्रेयसी के रूप में ही इन कवियों ने देखा फलस्वरूप उसका लोकमंगलकारी पवित्र रूप तिरोहित हो गया। वह वासना की मूर्ति समझ ली गयी।

(10) भाषा-शैली - इस युग की मुख्य भाषा ब्रजभाषा रही। ब्रजभाषा की सहज मधुरता ने इन कवियों की काव्य रचना में माधुर्य की सरिता बहा दी। डॉ. नगेन्द्र के शब्दों में - "इनके काव्य में किसी भी ऐसे शब्द की गुंजाइश तक नहीं, जिसमें माधुर्य नहीं है या जो माधुर्य गुण के अनुकूल न हो।" ब्रजभाषा के अतिरिक्त अवधी, फारसी एवं संस्कृत शब्दों के प्रयोग भी मिलते हैं।

श्रृंगार इस युग का प्रधान रस रहा। इसके अतिरिक्त वीर, भक्ति आदि रसों में भी काव्य रचे गये। छन्द की दृष्टि से सवैया छन्द प्रमुख रहा। दोहे, कवित्त एवं अन्य छन्द रूपों के भी उदाहरण इस युग में मिलते हैं।

सारांशतः रीतिकाल का काव्य बड़ा समृद्ध है। भक्तिकाल की अपेक्षा इस काल का साहित्यिक फलक कहीं अधिक विस्तृत एवं व्यापक रहा है। सामाजिक दृष्टिकोण से भी इस काल की रचनाओं में कम मंगल कामना नहीं मिलती। गिरिधर कविराय के नीतिपरक दोहों एवं घाघ की कृषि सम्बन्धी उक्तियों को आज भी ग्रामीण जनता बहुत आदर के साथ समय-समय पर रटती रहती है। भाषा एवं अलंकरण की दृष्टि से तो इस युग पर हिन्दी साहित्य को गर्व है क्योंकि इसी युग में कला का चरमोत्कर्ष दिखाई पड़ता है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में - "इन रीतिग्रंथों के कर्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था न कि काव्यांगों का शास्त्रीय-पद्धति पर निरूपण करना। अतः उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसों (विशेषतः श्रृंगार रस) और अलंकारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यन्त प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत हुए।"

प्रश्न 32. आप रीतिकाल का प्रवर्तक कवि किसे मानते हैं ? सप्रमाण उत्तर दीजिए।

अथवा

'हिन्दी रीति ग्रंथों की अखण्ड परम्परा चिंतामणि त्रिपाठी से चली, अतः रीतिकाल का आरंभ उन्हीं से मानना चाहिए।' शुक्ल जी के इस कथन की समीक्षा करते हुए रीतिकाल के वास्तविक प्रवर्तक को निर्धारित कीजिए।

उत्तर - आचार्य शुक्ल केशवदास को रीतिकाल का प्रवर्तक न मानकर चिंतामणि को मानते हैं। उनका कहना है - "हिन्दी में रीति ग्रंथों की अविरल

और अखण्ड परंपरा का प्रवाह केशव की कविप्रिया के पचास वर्ष पीछे चला और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर, केशव के आदर्श को लेकर नहीं।''

साधारणतः प्रवर्तक उसे कहा जाता है जिसके द्वारा प्रशस्त मार्ग या आदर्श का अनुकरण उसके परवर्ती व्यक्ति करते चलते हैं। आचार्य शुक्ल के अनुसार हिन्दी रीतिग्रंथों की जो परम्परा चली उसके पीछे चिन्तामणि के आदर्शों का अनुकरण है। अतः वे चिन्तामणि को ही रीतिकाल का वास्तविक प्रवर्तक मानते हैं। उन्हीं के शब्दों में - ''हिन्दी रीतिग्रंथों की अखण्ड परम्परा चिन्तामणि त्रिपाठी से चली, अतः रीतिकाल का आरंभ उन्हीं से मानना चाहिए।''

इस प्रकार केशवदास को रीतिकाल का प्रवर्तक न मानने के पक्ष में शुक्ल जी निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं - प्रथमतः, केशव भामह, दण्डी की परम्परा को मानने वाले अलंकारवादी थे जबकि परवर्ती हिन्दी कवि मम्मट, विश्वनाथ आदि के रसवादी परंपरा को लेकर चले। द्वितीयतः, केशव के पचास वर्ष बाद तक रीतिकालीन कवियों की परंपरा टूटी-सी रही, और चिन्तामणि के पश्चात् वह अविच्छिन्न रूप से चली। अर्थात् परवर्ती आचार्यों ने केशव के अलंकारवादी परम्परा का नियमन न कर, चिन्तामणि के रसवादी परम्परा का अनुगमन किया। अतः चिन्तामणि को ही रीतिकाव्य परम्परा का प्रवर्तक मानना चाहिए न कि केशवदास को।

शुक्ल जी के मत का खण्डन - शुक्ल जी के परवर्ती आलोचकों ने केशव सम्बन्धी उनकी मान्यताओं की कटु आलोचना की।

परवर्ती आलोचकों ने शुक्ल जी के इस मत का खंडन किया कि आचार्य केशव दास मात्र अलंकारवादी कवि थे। केशव ने अलंकारों को काव्य का आभूषण माना है, काव्य के लिए नितान्त आवश्यक नहीं। उन्होंने कहा है -

जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिनु न बिराजई, कविता बनिता मित्त।।

भिखारीदास भी रस को कविता का अंग और अलंकारों को उसका आभूषण मानते हैं। पं. चिन्तामणि ने भी तो अलंकारों के महत्त्व को स्वीकार किया था -

सगुन अलंकारन सहित, दोष रहित जो होइ।
शब्द अर्थ वारौं कवित बिबुध कहत सब कोइ।।

इस प्रकार काव्य में अलंकार के महत्त्व को रीतिकालीन प्रायः सभी कवियों

ने स्वीकार किया है, उसे काव्य का आभूषण माना है, फिर केशवदास को ही अलंकारवादी कहना कहाँ तक न्यायसंगत है ? केशवदास ने मात्र अलंकारों का ही विवेचन नहीं किया है, 'रसिक प्रिया' में उन्होंने रस विवेचन, नायक-नायिका भेद आदि का विश्लेषण भी किया है जिसमें मम्मट के 'काव्य प्रकाश' और विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' का अनुकरण है। परन्तु केशव की 'कविप्रिया' के आधार पर ही उनका मूल्यांकन करने के कारण शुक्ल जी उनके साथ न्याय नहीं कर पाये। उन्होंने 'रसिक प्रिया' में विभिन्न रसों का विवेचन विशुद्ध रस सिद्धान्त के आधार पर करते हुए रस को काव्य का आवश्यक तत्त्व माना है-

ताते रुचि सों सोचि कै कीजै सरस कवित्त।

इससे ज्ञात होता है कि केशव केवल अलंकारवादी ही नहीं, रसवादी आचार्य भी थे।

आलोचकों ने शुक्ल जी के दूसरे मत का भी खंडन किया है कि केशव के पचास वर्ष बाद तक रीतिकालीन कवियों की परंपरा टूटी-सी रही। शुक्ल जी के अनुसार केशव के काव्यादर्शों का पालन उनके परवर्ती आचार्यों ने नहीं किया। परन्तु बात ऐसी नहीं है। आचार्य केशव के बाद भी पचास वर्षों के बीच अनेक लक्षण ग्रंथों का प्रणयन हुआ, जिनसे यह स्पष्ट है कि उनके द्वारा चलायी गयी लक्षण ग्रंथ की परम्परा खंडित नहीं हुई थी। इन लक्षण ग्रंथों में बालकृष्ण कृत 'रस चन्द्रिका' (सं. 1657), मुबारक कृत 'अलक शतक' और 'तिलक शतक', ब्रजपति भट्ट कृत 'रंगभाव माधुरी' (सं. 1680), क्षेमराज कृत 'फतेह प्रकाश', तोषकवि कृत 'सुधानिधि' (सं. 1691), जसवंत सिंह कृत 'भाषा भूषण' इत्यादि प्रमुख हैं।

इस प्रकार शुक्ल जी का यह मत निराधार साबित होता है कि केशव के उपरान्त 50 वर्षों तक लक्षण ग्रंथों के निर्माण की परम्परा बन्द रही। श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र केशवदास को रीतिशास्त्र का प्रवर्तक मानते हुए लिखते हैं - "रीति साहित्य भक्ति के समानान्तर चला और रीतिकाव्य का श्रीगणेश हिन्दी के आदियुग में ही हो गया। विद्यापति से उसका आरंभ मानना पड़ेगा। रीतिशास्त्र का सम्यक् प्रवर्तन श्री केशवदास द्वारा भक्तिकाल में ही हो गया।"

यद्यपि काल-विभाग के अनुसार आचार्य केशवदास की गणना भक्तिकाल में होती है, तथापि रीतिकाल का प्रवर्तन उन्हीं से प्रारंभ होता है। अतः कालक्रमानुसार केशवदास को हम भक्तिकाल में रखें या रीतिकाल में, परन्तु रीतिकाल के प्रथम आचार्य एवं प्रवर्तक कवि उन्हीं को मानना पड़ेगा।

डॉ. भगीरथ मिश्र के अनुसार - "अतः हम कह सकते हैं कि रीतिशास्त्रीय परम्परा डालने वाले सबसे पहले रीतिशास्त्र के आचार्य केशवदास ही हैं, जिन्होंने ब्रज भाषा-कवियों और आचार्यों के सामने हिन्दी काव्य-रचना का एक नवीन मार्ग उद्घाटित किया।" इस प्रकार रीतिकाल के प्रवर्तक आचार्य केशवदास को ही मानना चाहिए न कि पं. चिन्तामणि त्रिपाठी को।

प्रश्न 33. रीतिमुक्त काव्य का क्या तात्पर्य है ? रीतिमुक्त काव्य-धारा की प्रमुख प्रवृत्तियों का विवेचन करें।

उत्तर - रीतिकाल की सीमावधि सं. 1700 से 1900 तक मानी गयी है। इस काल में तीन प्रकार की काव्य रचना की गयी - रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त। रीतिबद्ध कविगण वे थे जो 'रीति' अर्थात् काव्यशास्त्र की निश्चित परम्पराओं में बंधे हुए थे। ये कवि प्राचीन संस्कृत शास्त्र के लक्षण ग्रंथों के आधार पर रस, रीति, अलंकार, छन्द, शब्द शक्ति आदि सम्बन्धी लक्षण ग्रंथों का निर्माण करते थे। इन कवियों में आचार्य केशव, चिन्तामणि, मतिराम, भिखारीदास, देव, पद्माकर आदि प्रसिद्ध हैं। लक्षणों को न लिखकर भी उसके अनुसार रचना करने वाले कवि रीतिसिद्ध कहलाये जैसे बिहारी तथा हृदय की प्रेरणा से शृंगारिक रचनाएं करने वाले रीतिमुक्त कवि कहलाये। रीतिमुक्त कवियों में घनानन्द, ठाकुर, आलम, बोधा आदि प्रमुख हैं। ये कविगण रीतिकाल में होते हुए भी रीति के प्रभाव से अलग हो स्वच्छन्द रूप से कविता करते रहे। संक्षेप में रीतिमुक्त काव्य की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं -

(1) स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण - रीतिमुक्त कवि काव्य में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के समर्थक थे। वे काव्य की बँधी बँधाई रूढ़िगत मान्यताओं में अपनी स्वच्छन्द विचारधारा को बाँधना नहीं चाहते थे। यही कारण है कि रीतिकाल में एक ओर जहाँ रीति (लक्षण) के नियमों में बँधकर काव्य-सृजन हो रहा था, वहीं रीतिमुक्त कवि इन सारी मान्यताओं को तोड़ स्वच्छन्द काव्य-सृजन की ओर उन्मुख हुए। इन कवियों ने केवल शृंगारिक रचनाएँ ही नहीं कीं बल्कि नीति, भक्ति एवं खेती-दर्शन सम्बन्धी भी उनकी रचनाएँ मार्मिक हैं।

(2) प्रेम का स्वरूप - रीतिमुक्त कवियों ने प्रेम का जो मार्ग अपनाया वह रीतिबद्ध कवियों से भिन्न था। इन कवियों ने प्रेममार्ग को अत्यन्त सीधा और सपाट माना है। घनानन्द के शब्दों में -

अति सूधो सनेह को मारग है, जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहाँ सूधे चलै तजि आपुनपौ, झिझकै कपटी जे निसाँक नहीं।

रीतिमुक्त कवियों के प्रेम की दूसरी विशेषता यह रही है कि उनका प्रेम-भाव उन्मुक्त एवं सतत प्रवहमान था। वे रीतिबद्ध कवियों की भाँति राधा-कृष्ण की भक्ति के बहाने प्रेम का खेल नहीं खेला करते थे। उदाहरणार्थ घनानन्द और सुजान का प्रेम-प्रसंग जगत प्रसिद्ध है।

(3) वियोग की मार्मिकता - वियोग प्रेम की कसौटी है। जो विरही इस कसौटी पर खरा उतरता है, वही सच्चा प्रेमी माना जाता है। विरहाकूलता ही घनानन्द को सच्चा प्रेमी बना देती है। प्रेमी के वियोग में प्रेमिका की आँखें झरने के समान अनवरत झरती रहती हैं -

रैन दिना छुटिबौ करैं प्रान झरैं अँखियाँ दुखियाँ झरना सी।
प्रीतम की सुधि अंतर मैं कसकै सखि ज्यों पसरीन मैं गाँसी।।

(4) परम्परामुक्त संयोग वर्णन - यद्यपि संयोग श्रृंगार का वर्णन रीतिमुक्त कवियों ने बहुत कम किया है तथापि जितना किया है वह परम्परा से मुक्त एवं तन्मयता से युक्त है। रीतिबद्ध कवियों की तुलना में इनका संयोग वर्णन संयमित, भावना प्रधान, प्रभावशाली एवं कलात्मक है। इनके संयोग श्रृंगार की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि संयोगावस्था में भी इन्हें वियोगावस्था की आशंका सताती रहती है - "यह कैसो संजोग न बूझि परै कि वियोग न क्यौंहू विछोहत है।"

इन कवियों का संयोग वर्णन नायिका-भेद नख-शिख वर्णन आदि परम्परागत रूढ़ियों के आश्रय में कैद न होकर संभोग सुख की उमंग, मिलन का उत्साह एवं रति-सुख के आनन्द से आपूरित है।

(5) कृष्ण-लीला वर्णन - रीतिमुक्त कवियों ने श्रृंगार एवं प्रेम का निरूपण तो किया ही, कृष्ण-लीला का वर्णन भी उन्होंने बहुत ही तन्मयता के साथ किया है। इनका कृष्ण-लीला-वर्णन 'सुमिरन को बहानो है' न होकर भक्ति की तल्लीनता है।

सुजान के रसीले यौवन का रसपान करने वाले कविवर घनानन्द श्रीकृष्ण के प्रति पूर्ण समर्पित हो उनके चरण-कमलों का रसपान करते भी नहीं अघाते हैं -

चरन तुम्हारे सुफलदायक।
रमन भूमि ब्रजमंडल सुनहु साँवरे गोकुल नायक।
रस-विलास सम्पदा स्वामी सुख निधान सुमिरिवै सुलायक।
आनन्दघन अमोध रस मूरति सरनागत-भय-हरन सहायक।।

(6) भावना की प्रधानता - रीतिमुक्त कवियों में भावना की प्रधानता रही है। उन्होंने बँधी बँधाई परम्परागत परिपाटी पर न चलकर भावना की पुकार पर चलना एवं तदनुरूप काव्य-सृजन करना ही अपना उद्देश्य समझा था। यही कारण है कि उपयुक्त कण्ठ से प्रवाहित उनकी भावना प्रधान उक्तियाँ सहृदय के अंतरतम को स्पर्श ही नहीं करतीं बल्कि उसे झकझोर कर रख देती हैं।

श्रृंगार रस में निमग्न हो सुजान पर जब घनानन्द जी अपनी लेखनी चलाने लगते हैं तो वह सुजान घनानन्द की न होकर प्रत्येक सहृदय पाठक की प्रेमिका बन हृदय के झरोखे से झाँकती हुई दिल के दीवारों पर टीसें मारने लगती है।

और फिर भक्तिरस की स्रोतस्विनी में जब ये कविगण अपनी भावनाओं को उड़ेलते हुए अवगाहन करने लगते हैं तो उस सरिता में पाठक भी डुबकियाँ लगाने लगते हैं।

संक्षेप में, इन कवियों की भावना प्रधान रस-सिक्त कवित्व शैली ही इन्हें कृत्रिमता से वंचित कर सहज स्वाभाविकता के कगार पर पहुँचा देती है, जहाँ ये रीतिसिद्ध कवियों से भी आगे निकल जाते हैं। कवि घनानंद रीतिसिद्ध कवियों की तरह एक-एक मात्रा बैठा-बैठा कर कविता नहीं रचते, बल्कि उनकी भावना ही कविता बन जाती है -

लोग हैं लागि कवित्त बनावत,
मोहि तो मेरे कवित्त बनावत।

भाषा और शैली - रीतिमुक्त कवियों की भाषा-शैली अनूठी है। इन कवियों में भाषा का जैसा सहज स्फुरण, उचित शब्द-चयन, लालित्य, कोमलता एवं परिष्कार देखने को मिलता है वैसा रीतिसिद्ध कवियों में भी अप्राप्य है।

घनानन्द की सहज स्फुरित, परिमार्जित भाषा को देखकर आचार्य शुक्ल जी आश्चर्यचकित हो उठते हैं - "यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि भाषा पर जैसा अचूक अधिकार इनका था वैसा और किसी कवि का नहीं। भाषा मानो इनके हृदय के साथ जुड़कर ऐसी वशवर्तिनी हो गयी थी कि ये उसे अपनी अनूठी भाव भंगिमा के साथ-साथ जिस रूप में चाहते थे उस रूप में मोड़ देते थे।" विशुद्ध ब्रजभाषा का रूप इन कवियों के साहित्य में प्राप्य है।

वचन वक्रता, व्यंग्योक्ति, नादव्यंजना, लाक्षणिकता आदि की दृष्टि से रीतिमुक्त काव्य की गरिमा और निखर उठी है। सवैया छन्द के माध्यम से इन कवियों ने अपनी उक्तियों को अधिकांश रूप में सजाया है।

ये कविगण अलंकारों एवं रसों के मोहपाश में बँधने वाले नहीं थे, बल्कि इनकी सहज स्फुरित भावनाओं के पीछे अलंकार, रस आदि अनायास ही दौड़े हुए आ जाते थे और इनकी वाणियों को शृंगार का अलंकरण पहना उसकी मोहकता में चारुता ला देते थे।

इस प्रकार रीतिमुक्त काव्य-धारा अनुभूति की मार्मिकता, प्रेम की एकनिष्ठता, भाषा की सहज प्रवाहमयता एवं भावनाओं की उद्रेकता के कारण रीतिकाल के रीतिमय घटाटोपों के बीच भी अपना अक्षुण्ण, प्रभावशाली एवं स्वच्छन्द विचार के लिए एवं परवर्ती साहित्य धाराओं के लिये भी पथ-प्रदर्शक रही है।

प्रश्न 34. रीतिकालीन कवियों के आचार्यत्व की सोदाहरण विवेचना कीजिए।

उत्तर - रीतिकालीन रचनाओं को रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध एवं रीतिमुक्त नामक तीन वर्गों में विभक्त किया गया है। रीतिबद्ध कवि वे कहलाए जिन्होंने काव्यशास्त्र की परम्परा का अनुसरण कर लक्षण ग्रंथों का निर्माण किया। इन कवियों में आचार्य केशवदास, पं. चिन्तामणि त्रिपाठी, मतिराम, देव, भिखारीदास आदि प्रमुख हैं। इन कवियों ने काव्य-लक्षणों का निर्माण कर उसका उदाहरण भी प्रस्तुत किया है। संस्कृत साहित्य में लक्षण ग्रंथों के निर्माण करने वाले कवियों को आचार्य कहा गया है। संस्कृत साहित्य के लक्षणकार अर्थात् आचार्य केवल लक्षणों का ही निर्माण करते थे और उन्हें स्पष्ट करने के लिए दूसरे कवियों की रचनाओं से उपयुक्त उदाहरण प्रस्तुत कर देते थे। इस प्रकार संस्कृत के लक्षणकार और कवि अलग-अलग होते थे। परन्तु हिन्दी के रीतिबद्ध कवि आचार्य और कवि दोनों साथ-साथ थे। वे लक्षण ग्रन्थों का भी निर्माण करते थे और उपयुक्त उदाहरण भी प्रस्तुत कर देते थे। रीतिसिद्ध एवं रीतिमुक्त कवि आचार्यत्व की होड़ से सदा अलग रहे।

अतः रीतिकालीन कवियों के आचार्यत्व का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत है -

1. आचार्य केशवदास - आचार्य केशवदास का जन्म सं. 1612 (सन् 1555 ई.) और मृत्यु सं. 1674 (सन् 1617 ई.) के आसपास हुई। ये जाति के सनाढ्य ब्राह्मण थे। केशवदास जी संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान थे। इन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना कर हिन्दी साहित्य में रीतिकाल के आदि आचार्य के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त की है।

आचार्यत्व - आचार्य शुक्ल एवं डॉ. श्याम सुन्दरदास -- प्रभृति विद्वानों ने आचार्य केशवदास को रीतिकाल का प्रथम आचार्य घोषित किया है।

डॉ. श्यामसुन्दर दास के अनुसार - 'यद्यपि उस समय-विभाग के अनुसार केशवदास भक्तिकाल में पड़ते हैं और यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास आदि के समकालीन होने तथा 'रामचन्द्रिका' आदि ग्रंथ लिखने के कारण ये कोरे रीतिवादी नहीं कहे जा सकते, परन्तु उनपर पिछले काल के संस्कृत-साहित्य का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि वे अपने काल की काव्यधारा से पृथक् होकर चमत्कारवादी कवि हो गये और हिन्दी के रीतिग्रंथों की परम्परा के आदि आचार्य कहलाए।''

केशवदास के रचित दो प्रधान लक्षण-ग्रंथ हैं - 'कविप्रिया' एवं 'रसिक प्रिया'। कविप्रिया में इन्होंने कविकर्म को बतलाते हुए अलंकारों का विशद विवेचन किया है। विभिन्न काव्यांगों का वर्णन भी इस ग्रंथ में मौजूद है। इसमें अलंकारों के भेदोपभेदों का क्रमवार वर्णन करते हुए काव्य में उसकी आवश्यकता को स्वीकार किया गया है - 'भूषण बिनु न बिराजहीं, कविता बनिता मित्त।'

रसिक प्रिया में केशव ने श्रृंगार का रसराजत्व स्थापित करते हुए उसके विभिन्न भेदों एवं उपभेदों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। इस प्रकार इन दोनों ग्रंथों के आधार पर केशव को आचार्य कहना ही समीचीन है।

(2) पं. चिन्तामणि त्रिपाठी - पं. चिन्तामण त्रिपाठी का जन्म सन् 1630 ई. में और मृत्यु सन् 1707 ई. के लगभग मानी जाती है। इनका जन्म तिकवाँपुर में कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था।

आचार्यत्व - इन्होंने काव्य-विवेक, कविकुल, कल्पतरु और काव्य-प्रकाश नामक तीन ग्रंथ लिखे हैं। 'काव्य कुल-कल्पतरु' इनका प्रसिद्ध लक्षण-ग्रंथ है। इसमें काव्य के समस्त अंगों का मार्मिक विवेचन किया गया है। इसमें नायिका वर्णन, अलंकार निरूपण आदि बहुत ही सुन्दर रूप से उदाहरणों के साथ है।

(3) मतिराम - ये चिन्तामणि एवं भूषण के भाई थे। इनका जन्म तिकवांपुर ग्राम में सं. 1674 (सन् 1617 ई.) में हुआ था। ये हिन्दी के यशस्वी रससिद्ध कवि हैं।

आचार्यत्व - 'रसराज', 'छन्दसार', 'ललित-ललाम' आदि इनके प्रमुख लक्षण ग्रन्थ हैं। 'रसराज' नायिका भेद से सम्बन्धित इनकी उत्कृष्ट रचना है। 'ललित ललाम' इनका अलंकार ग्रंथ है जिसमें सुन्दर छप्पय एवं घनाक्षरी हैं। 'ललित ललाम' के एक ही छन्द में यथासंख्य, विभावना, प्रतीप, समुच्चय और उपमा की मनोहर झलक द्रष्टव्य है -

महावीर सत्रु-सालनन्द राव भाव सिंह,
तेरी धाक अरिपुर जात भय भोय से।
कहैं 'मतिराम' तेरे तेज पुंज लिए गुन
मारुत औ मारतण्ड-मण्डल विलोय से।

(4) देव .. कविवर देव का जन्म सन् 1673 ई. में हुआ था। इनका पूरा नाम देवदत्त था। ये बहुत ही मेधावी एवं प्रखर बुद्धि के व्यक्ति थे। सोलह वर्ष की अल्प वय में ही इन्होंने 'भाव विलास' नामक ग्रंथ की रचना कर डाली थी।

आचार्यत्व - यद्यपि देव द्वारा रचित 72 ग्रंथों की बात कही जाती है, परन्तु इनके 22 ग्रंथ अब तक प्रकाश में आ चुके हैं।

देव कवि एवं आचार्य दोनों थे। देव ने 'भाव विलास', 'अष्टयाम', 'भवानी विलास', 'रस विलास' आदि ग्रंथों में नायिका भेद एवं रस अलंकारों के लक्षणों तथा उदाहरणों का बहुत ही स्वाभाविक वर्णन किया है। नायिका भेद की प्रौढ़तम रचना करने वाले आचार्य कवियों में देव का स्थान सर्वोपरि है। उन्होंने नायिकाओं के विभिन्न भेदों एवं उपभेदों का सम्यक् वर्णन प्रस्तुत किया है। नायिका-भेद-वर्णन की दृष्टि से इनका 'सुखसागर तरंग' ग्रंथ प्रमुख है।

शब्द शक्तियों पर विचार करते हुए कवि देव अभिधा शक्ति को उत्तम मानते हैं -

अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षणा लीन।
अधम व्यंजना रस विरस उलटी कहत नवीन।।

ये रससिद्ध आचार्य तो थे ही परन्तु इनकी अलंकार योजना भी कम आकर्षक नहीं है। वसंत का बालक रूप में वर्णन करते हुए देव ने रूपक अलंकार का उत्कृष्ट नमूना पेश किया है -

डारि द्रुम पलना, बिछौना नव पल्लव के, सुमन झिंगूला सोहै तन छवि भारी दै।
पवन झुलावै, केकी कीर बहरावै देव, कोकिल हलावै हुलसावै कर तारी दै।

उन्होंने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अन्वय आदि अलंकारों के साथ कवित्त, सवैया, दोहा आदि छन्दों का उदाहरण के साथ लक्षण प्रस्तुत किया है।

बहुत से विद्वानों ने बिहारी एवं भूषण कवि को भी आचार्य की श्रेणी में ही रखा है। यद्यपि कविवर बिहारी ने लक्षण ग्रन्थों की रचना नहीं की है, उनके द्वारा रचित 'बिहारी सतसई' लक्षण ग्रन्थ नहीं हैं, फिर भी उसमें दोहों की स्पष्ट समायोजना को देखकर आलोचकों ने अनुमान लगाया है कि इन दोहों को

लिखते वक्त उनका ध्यान लक्षणों की तरफ अवश्य रहा होगा। इसीलिए उनकी गणना कहीं तो रीतिसिद्ध एवं कहीं रीतिबद्ध कवियों के अंतर्गत की गयी है।

भूषण स्वच्छंद धारा के कवि रहे हैं। इन्होंने भी अलंकारों का लक्षण-ग्रंथ अवश्य लिखा, परन्तु उनका मुख्य उद्देश्य शिवाजी की प्रशंसा करना था। कविवर भिखारीदास ने भी काव्यांगों का निरूपण किया है।

इस प्रकार रीतिकालीन रीतिबद्ध धारा के कवि एक ही साथ आचार्य एवं कवि दोनों का दायित्व निभाते थे। अतः वे न तो आचार्यत्व में ही सर्वोपरि एवं सर्वोत्कृष्ट ख्याति प्राप्त कर सके न कवि के रूप में ही। उनकी कविता लक्षणों के इशारे पर ही बनती रही, अतः उसमें सहज संप्रेषणीयता एवं स्वाभाविकता नहीं आ पायी। आचार्यत्व का व्यामोह कविता कामिनी की नाजुक ग्रीवा पर हमेशा हावी रहता था।

आधुनिक काल

सं. 1900 से (सन् 1843 से)

प्रश्न 35. भारतेन्दु से पहले खड़ी बोली गद्य के विकास का संक्षिप्त परिचय देते हुए बताइये कि हिन्दी के परिमार्जित रूप का सूत्रपात आप कब से मानते हैं ?

अथवा

प्रश्न 36. हिन्दी खड़ी बोली गद्य के विकास की क्रमिक रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए उसके निर्माण में विभिन्न संस्थाओं तथा साहित्यरथियों की भूमिका का वर्णन करें।

अथवा

प्रश्न 37. खड़ी बोली गद्य का सूत्रपात कब हुआ ? आधुनिक गद्य शैली के निर्माण में विभिन्न संस्थाओं की क्या भूमिका रही है ? स्पष्ट करें।

उत्तर - आधुनिक काल में खड़ी बोली के जिस गद्य का विकास हुआ उसका सूत्रपात चौदहवीं शताब्दी में ही हो चुका था। सबसे प्राचीन गद्य भाषा का नमूना चौदहवीं शताब्दी में रचित 'गोरखसार' ग्रंथ में मिलता है, परन्तु इसकी भाषा खड़ी बोली से अधिक ब्रजभाषा के निकट है। ब्रजभाषा गद्य में लिखी बहुत-सी रचनाएँ मिलती हैं, जिनमें स्वामी गोकुल नाथ कृत 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' एवं 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' प्रमुख हैं। इसके बाद ब्रजभाषा में अनेक ग्रंथों की टीकाएँ भी की गयीं, परन्तु आगे चलकर ब्रजभाषा गद्य का विकास न हो सका।

मुगल-काल में खड़ी बोली गद्य को प्रोत्साहन मिलने लगा था। सम्राट् अकबर के समय में गंग कवि ने 'चंद छंद बरनन की महिमा' नामक एक गद्य पुस्तक खड़ी बोली में लिखी थी। इस पुस्तक की भाषा आधुनिक खड़ी बोली से मिलती जुलती है। गंग कवि द्वारा प्रवर्तित गद्य परम्परा कुछ काल के लिए क्षीण हो गयी।

सन् 1741 में रामप्रसाद निरंजनी ने 'योगवाशिष्ठ' का अनुवाद खड़ी बोली गद्य में किया। इसके उपरान्त सन् 1761 ई. में पं. दौलतराम ने 'जैन पद्मपुराण' का भाषानुवाद किया। इन दोनों ग्रंथों में 'भाषा योगवाशिष्ठ' की भाषा बहुत ही परिमार्जित एवं प्रौढ़ है। अतः परिमार्जित एवं शुद्ध खड़ी बोली के गद्य की दृष्टि से 'भाषा योगवाशिष्ठ' को प्रथम गद्य ग्रंथ एवं रामप्रसाद निरंजनी को प्रथम गद्य लेखक माना जाता है।

श्री रामप्रसाद निरंजनी एवं श्री दौलतराम के पश्चात् खड़ी बोली गद्य के क्षेत्र में सन् 1803 ई. के लगभग चार महानुभावों का प्रादुर्भाव हुआ। ये हैं – मुंशी सदासुख लाल 'नियाज', इंशा अल्ला खाँ, लल्लूजी लाल एवं सदल मिश्र। इन चारों महानुभावों में से मुंशी सदासुखलाल एवं इंशा अल्ला खाँ स्वतः प्रेरणा से खड़ी बोली गद्य की रचना में प्रवृत्त हुए एवं लल्लू लाल तथा सदल मिश्र जॉन गिल क्राइस्ट की प्रेरणा से।मुंशी सदासुखलाल ने 'सुखसागर' की रचना हिन्दी गद्य में की जो श्रीमद्भागवत् ग्रंथ पर आधारित है तथा इंशा अल्ला खाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' नामक पुस्तक की रचना की जिसे 'उदयभानु चरित' भी कहा जाता है। इन दोनों महानुभावों की भाषा अत्यन्त सरल एवं परिमार्जित है। इंशा अल्ला खाँ की भाषा तो ठेठ हिन्दी है। इसमें संस्कृत या अरबी-फारसी शब्दों के प्रयोग नहीं के बराबर हैं।

खड़ी बोली गद्य का विकास अब अनवरत रूप से होने लगा था। यह सब काल-चक्र का प्रभाव था कि चौदहवीं शताब्दी से ही खड़ी बोली का गद्य दम-घोंटू वातावरण में जीता आ रहा था, परन्तु वह मरा नहीं था। अठारहवीं शताब्दी में आते-आते अब उसे उर्वरता मिलने लगी थी। जिस गद्य शैली को श्रीराम प्रसाद निरंजनी ने अपने हाथों संवारा था, उन्नीसवीं शताब्दी में उसे चार महान् साहित्य रथियों के वरदहस्त प्राप्त हुए। वह और निखर उठी, उसमें विकास होने लगा। इस प्रकार खड़ी बोली गद्य को विकसित करने में निम्नलिखित संस्थाओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है –

(1) फोर्ट विलियम कॉलेज का योगदान – 4 मई सन् 1800 ई. को फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना हुई, जिसने हिन्दी गद्य के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। इस कॉलेज में हिन्दी-उर्दू के अध्यापक जॉन गिलक्राइस्ट थे। उन्होंने उक्त कॉलेज में आगरा के श्री लल्लू जी लाल एवं आरा के श्री सदल मिश्र को भाषामुंशी के रूप में नियुक्त किया। जॉन गिलक्राइस्ट की प्रेरणा से ही लल्लू जी लाल ने 'प्रेमसागर' एवं पं. सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' नामक ग्रंथ की रचना की। इन दोनों महानुभावों की सहायता से 'हिन्दी-इंगलिश डिक्सनरी' की रचना भी की गयी। परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि हिन्दी गद्य के विकास में अंग्रेजों का ही योगदान रहा है। इसके विकास की पृष्ठभूमि बहुत पहले से कायम हो रही थी।

(2) ईसाई मिशनरी का अवदान – ईसाई पादरियों ने अपने धर्म के प्रचार के लिये हिन्दी गद्य को माध्यम बनाया। विलिमय केरे ने बाइबिल के साथ इंजील आदि का भी हिन्दी में अनुवाद किया। फोर्ट विलियम कॉलेज के बाद

विभिन्न स्कूल और कॉलेज खोले गये जिनमें हिन्दी की पढ़ाई व्यवस्थित रूप से होने लगी। सन् 1817 ई. में 'कलकत्ता बुक सोसायटी' और सन् 1833 ई. के लगभग पादरियों की 'आगरा स्कूल बुक सोसायटी' की स्थापना हुई, जिसकी प्रेरणा से विभिन्न हिन्दी पुस्तकें प्रकाशित की गई। इस प्रकार हिन्दी गद्य की परम्परा को विकसित होने में पूरा बल मिला।

(3) ब्रह्म एवं आर्य समाज का सहयोग - ईसाइयों के धर्म प्रचार को देखकर हिन्दुओं में भी अपने धर्म प्रचार की ओर उत्साह जगा। इसका कारण एक यह भी था कि ईसाई धर्म का प्रचार व्यापक होता जा रहा था। अतः उसकी व्यापकता हिन्दू धर्म पर छाने लगी थी। अतः अपने धर्म के प्रति सचेष्ट भारतीय विद्वानों ने विभिन्न संस्थाओं की स्थापना कर हिन्दी गद्य के माध्यम से उसका प्रचार करना प्रारंभ किया। बंगाल के राजाराम मोहन राय ने 'ब्रह्मसमाज' की स्थापना कर सन् 1815 ई. में वेदान्त सूत्रों के भाष्य का हिन्दी में अनुवाद करके प्रकाशित कराया। सन् 1829 ई. में उन्होंने 'बंगदूत' नामक एक हिन्दी संवाद पत्र निकाला। उसी समय स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'आर्य समाज' की स्थापना कर सन् 1824 ई. में 'सत्यार्थप्रकाश' एवं 'संस्कार-विधि' जैसे गद्य ग्रंथों को लिखकर हिन्दी गद्य को विकसित किया।

(4) पत्र-पत्रिकाओं का योगदान - हिन्दी गद्य को विकसित एवं परिमार्जित करने में विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं का भी योगदान रहा है। 30 मई, सन् 1826 ई. को पं. युगलकिशोर शुक्ल ने 'उदन्तमार्तण्ड' नामक हिन्दी समाचार पत्र का सर्वप्रथम संपादन किया। तत्पश्चात् सन् 1829 ई. में 'बंगदूत' का संपादन हुआ। सन् 1845 ई. में राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने 'बनारस अखबार' एवं सन् 1861 ई. में राजा लक्ष्मण सिंह ने 'प्रजाहितैषी' नामक समाचार पत्र का प्रकाशन कराया। इससे हिन्दी को निरन्तर पल्लवित होने का अवसर मिलता रहा।

राजा शिव प्रसाद सितारे हिन्द एवं राजा लक्ष्मण सिंह का आगमन हिन्दी गद्य के विकास में एक क्रान्तिकारी कदम कहा जायेगा। राजा शिव प्रसाद सिंह का जन्म सन् 1823 ई. में हुआ और सन् 1845 ई. में ये 'बनारस' अखबार के साथ हिन्दी साहित्य में आये। इन्होंने 'मानव-धर्म सार', 'उपनिषद सार' 'राजा भोज का सपना' तथा 'इतिहास-तिमिर नाशक' नामक अनेक ग्रंथों की रचना की। इनकी भाषा उर्दू मिश्रित है।

राजा लक्ष्मण सिंह का जन्म 1826 ई. में हुआ था। इनकी भाषा शैली सरल, प्रवाहमयी एवं संस्कृत-मिश्रित हिन्दी है। इन्होंने कालिदास कृत 'मेघदूत',

'शकुंतला' और 'रघुवंश' का हिन्दी में अनुवाद किया। आगे के गद्य लेखकों को राजा लक्ष्मण सिंह की भाषा-शैली से बहुत प्रेरणा मिली। उस समय पं. वंशीधर, राम प्रसाद त्रिपाठी, मथुरा प्रसाद खत्री, ब्रजवासी दास एवं श्रद्धाराज फिल्लौरी जैसे साहित्यकार गद्य रचना की ओर प्रवृत्त थे।

यद्यपि भारतेन्दु हरिश्चंद्र युग पर्यन्त इन साहित्यकारों की रचनायें होती रहीं फिर भी भारतेन्दु जी बहुमुखी प्रतिभा लेकर साहित्याकाश में छा गये। उनके समय से गद्य साहित्य की विभिन्न विधाएँ उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, आलोचना आदि फूलने-फलने लगी थीं। उन्होंने साहित्यकारों का एक मण्डल स्थापित कर सबके लिए साहित्य का प्रेरणात्मक स्रोत कायम किया। यही कारण है कि आधुनिक हिन्दी गद्य का जनक भारतेन्दु को ही माना जाता है, और उनके जन्म काल से आधुनिक काल की शुरुआत।

इस प्रकार काल के प्रचण्ड झंझावातों को झेलते हुए विदेशी एवं देशी भाषाओं के दुर्गम मार्गों के बीच अपना मार्ग निकालते हुए हिन्दी गद्य अब पूर्ण विकास पा चुका था। भारतेन्दु युग तक आते-आते उसकी जीवन-लता लहलहा कर, सम्पूर्ण हिन्दी भाषी क्षेत्र में अपनी स्थायी पहचान बनाने लगी थी। अब 'निजभाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल' का गौरव भी प्राप्त हो चुका था।

प्रश्न 38. हिन्दी गद्य-साहित्य के विकास में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का स्थान निर्धारित करते हुए उनके 'मण्डल' के विभिन्न साहित्यकारों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करें।

अथवा

प्रश्न 39. खड़ी बोली गद्य के विकास में भारतेन्दु युगीन विभिन्न साहित्यकारों का क्या अवदान रहा है ? स्पष्ट करें।

उत्तर - महाश्वेता वीणापाणि माँ शारदे के एकनिष्ठ उपासक, निजभाषा के उन्नायक, आधुनिक गद्य साहित्य के जनक, स्वनामधन्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी साहित्य के बहुमुखी प्रतिभा के धनी कलाकार रहे हैं। सन् 1850 ई. में जन्मे भारतेन्दुजी मात्र 35 वर्ष की अवस्था में ही सन् 1885 ई. में परलोक सिधार गये। इस अल्पकाल में ही इन्होंने साहित्य श्री के भण्डार को अपनी अकूत प्रतिभा से सम्पन्न कर दिया।

अपनी 17 वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने 'कवि वचन-सुधा' नामक पत्रिका का प्रकाशन किया। इसके बाद 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' और फिर इसी का नाम बदल कर 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' नामक पत्रिका का प्रकाशन किया। इसी पत्रिका

में हिन्दी के परिमार्जित रूप के दर्शन होते हैं। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है 'हिन्दी नयी चाल में ढली, सन् 1873 ई. में।'

अपने जीवन-काल में भारतेन्दु जी ने अनेक निबन्धों, नाटकों, उपन्यासों, काव्य संग्रहों एवं प्रहसनों की रचना की। उनकी कुछ कृतियों के नाम इस प्रकार हैं -

काव्य- प्रेममाधुरी, प्रेमतरंग, वर्षा विनोद, प्रेम फुलवारी, वेणुगीत आदि।

मौलिक नाटक - वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, चंद्रावली, विषस्य विषमौषधम्, भारत दुर्दशा, नीलदेवी, अंधेर नगरी, प्रेम योगिनी आदि।

अनूदित नाटक - विद्यासुन्दर, पाखंडविडम्बन, धनंजय विजय, कर्पूरमंजरी, मुद्राराक्षस, सत्य हरिश्चन्द्र, भारत जननी आदि।

उपन्यास - हमीर हठ।

निबंधालोचना - हिन्दी भाषा, नाटक आदि।

भारतेन्दु जी का साहित्यिक व्यक्तित्व विविध रूपों में प्रकट हुआ, परन्तु उनका असली साहित्यिक व्यक्तित्व नाटक के क्षेत्र में ही देखने को मिलता है। भारतेन्दु जी स्वयं कई नाटकों के मंचन कर चुके थे। उन्होंने विभिन्न बंगला नाटकों का हिन्दी में अनुवाद कर भावी साहित्यकारों के लिए साहित्यिक सामंजस्यता का द्वार खोल दिया। भाषा-भाव-शैली की दृष्टि से उन्होंने साहित्य को जो परिमार्जित रूप प्रदान किया वह उनके पूर्व के साहित्यकारों से अधिक परिनिष्ठ एवं परवर्ती साहित्यकारों के लिए मार्गदर्शक साबित हुआ।

उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण ही उनके जीवनकाल में ही लेखकों एवं कवियों का एक खासा मण्डल चारों ओर तैयार हो गया। ये लेखक एवं कविगण भारतेन्दु जी के निधन के पश्चात् भी साहित्य सेवा में लगे रहे। इन साहित्यरथियों में प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रेमघन, लाला श्रीनिवास दास, ठाकुर जगमोहन सिंह, राधा चरण गोस्वामी, बाबू तोताराम, केशवराम भट्ट, मोहन लाल, विष्णुलाल पाण्ड्या, भीमसेन शर्मा, काशीनाथ खत्री, फ्रेडरिक पिन्काट और पं. सुधाकर द्विवेदी आदि प्रमुख हैं। इनमें से कुछ साहित्यकारों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है-

(1) प्रतापनारायण मिश्र - मिश्र जी का जन्म उन्नाव में सन् 1856 ई. में एवं मृत्यु सन् 1894 ई. में हुई। इन्होंने 'ब्राह्मण' नामक पत्र का प्रकाशन किया और उसके माध्यम से अपना साहित्य जनता तक पहुँचाने का शुभारंभ किया। इनकी भाषा सुलभ, हास्य-व्यंग्य परक, लोकोक्तियों एवं मुहावरों से परिपूर्ण एवं

चटपटे पन से युक्त है। गंभीर से गंभीर विषय को भी मनोरंजन-पूर्ण शैली में प्रस्तुत कर देना मिश्र जी की अपनी विशेषता है। मिश्र ज़ी निबन्ध लेखन के क्षेत्र में विख्यात रहे हैं। इनके निबन्धों में 'घूरे के लत्ता बीने', 'कनातन के डौल बाँधे', 'समझदार की मौत', 'बात', 'मनोयोग', 'वृद्ध' आदि प्रमुख हैं। कविता नाटक और प्रहसन के क्षेत्र में भी मिश्र जी का उल्लेखनीय अवदान रहा है।

(2) बालकृष्ण भट्ट - भट्ट जी का जन्म सन् 1844 ई. में एवं निधन सन् 1914 ई. में हुआ। भारतेन्दु मण्डल के साहित्यकारों में भट्ट जी का प्रमुख स्थान रहा है। इन्होंने सन् 1876 ई. में 'हिन्दी प्रदीप' नामक पत्रिका निकाल कर हिन्दी-गद्य को एक नयी दिशा प्रदान की।

भट्ट जी द्वारा रचित निबन्धों की संख्या सौ से भी ऊपर है। इनके निबन्धों की भाषा-शैली कहावतों, मुहावरों एवं व्यंग्य वक्रता के साथ अरबी-फारसी, संस्कृत एवं अंग्रेजी शब्दों से परिपूर्ण है। परन्तु विभिन्न भाषाओं के शब्दों के उचित प्रयोग के कारण उनकी शैली कहीं भी बोझिल नहीं होने पायी है। उसमें रोचकता और सरसता तथा स्वाभाविकता बढ़ती ही जाती है।

(3) प्रेमघन - पं. बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' का जन्म मिर्जापुर के एक रईस घराने में सन् 1855 ई. में हुआ था। साहित्य श्री की सेवा में अपनी प्रतिभा-सुमन को अर्पित करते हुए 'प्रेमघन' सन् 1932 में चिर-निद्रा में सो गये।

इन्होंने अपने साहित्यिक जीवन में कई पत्रों का प्रकाशन कर नाटक, लेख और कविता के क्षेत्र में अपनी साहित्यिक प्रतिभा का परिचय दिया। इनके लेखों के वाक्य लम्बे एवं आनुप्रासिक भाषा से युक्त हैं। इन्होंने 'आनन्द कादम्बिनी' नामक पत्रिका का संपादन किया जिसमें उनकी अनेक रचनायें देखने को मिलती हैं। प्रेमघन जी ने मुख्यतः 'भारत सौभाग्य', 'प्रयाग रामागमन', 'वारांगना रहस्य महानाटक' आदि नाटकों की रचना की। इनकी भाषा शैली पात्रानुकूल है।

(4) लाला श्रीनिवास दास - लाला श्रीनिवास दास का जन्म सन् 1841 ई. में एवं मृत्यु 1886 ई. में हुई। इन्होंने 'प्रह्लादचरित', 'तप्तासंवरण', 'रणधीर और प्रेममोहिनी' और 'संयोगिता स्वयंवर' नाटक का प्रणयन किया। इन्होंने 'परीक्षागुरु' नामक एक शिक्षाप्रद उपन्यास भी लिखा। इनके नाटकों पर अंग्रेजी नाटकों के प्रभाव दिखाई पड़ते हैं।

(5) ठाकुर जगमोहन सिंह - भारतेन्दु जी के अभिन्न मित्र एवं मध्यप्रदेश के विजयराघव गढ़ के राजकुमार ठाकुर जगमोहन सिंह का जन्म सन् 1857 ई. में एवं मृत्यु सन् 1899 ई. में हुई। ठाकुर जी संस्कृत एवं अंग्रेजी के अच्छे ज्ञाता

एवं हिन्दी के माधुर्यपूर्ण गद्य लेखक थे। ठाकुर जगमोहन सिंह जी प्रकृति के प्रेमी थे। अतः इनकी रचनाओं में भावुकता एवं भावना की प्रधानता है। उनकी रचना "श्यामा स्वप्न" है, जिसमें इनकी रचना शैली की भावुकता दृष्टिगोचर होती है।

(6) बाबू तोताराम - इनका जन्म सन् 1847 ई. में एवं मृत्यु सन् 1902 ई. में हुई। बाबू तोताराम जी अंग्रेजी के अच्छे ज्ञाता थे। इन्होंने अंग्रेजी पुस्तकों का अनुवाद भी किया। बाबू तोताराम जी ने 'भारत बन्धु' नामक एक पत्र का संपादन किया तथा 'कीर्तिकेतु' नामक एक नाटक भी लिखा।

(7) राधाचरण गोस्वामी - गोस्वामी जी का जन्म सन् 1858 ई. में एवं मृत्यु सन् 1925 ई. में हुई। ये संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। इनके नाटकों में 'सती चन्द्रावली', 'अमर सिंह राठौर' आदि प्रमुख हैं। इन्होंने बंगला के अनेक उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद भी किया।

इन साहित्यकारों के अतिरिक्त राधाकृष्णदास, केशवराम भट्ट, अम्बिकादत्त व्यास, काशीनाथ खत्री, विष्णुलाल पांड्या आदि साहित्यकारों का प्रमुख स्थान है।

भारतेन्दु मण्डल के ये सभी साहित्यकार हिन्दी साहित्याकाश के ऐसे देदीप्यमान नक्षत्र रहे हैं, जिन्होंने अपनी अविरल मेधा बल से साहित्य श्री के आँचल को भरते हुए भावी साहित्यकारों के लिए साहित्य की विभिन्न विधाओं का मार्ग-दर्शन कराते रहे।

प्रश्न 40. भारतेन्दुयुगीन गद्य साहित्य की विशेषताएँ बताइए।

अथवा

प्रश्न 41. भारतेन्दुयुगीन साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर - हिन्दी साहित्याकाश में भारतेन्दु का उदय उस समय हुआ जबकि भारत के एक सच्चे सपूत की तलाश में हिन्दी-उर्दू झगड़े में फँसी 'निजभाषा' लड़खड़ा रही थी। ऐसी विघटनकारी स्थिति में जन्म लेकर भारतेन्दु जी ने 'निजभाषा' हिन्दी को अपने कंधों की बैसाखी पकड़ायी और उसका सही मार्गदर्शन कराया।

भारतेन्दु का युग सन् 1868 से 1900 तक माना जाता है। यह काल हिन्दी साहित्य के इतिहास में संक्रमण का काल था। रीतिकालीन विलासिता के आगोश में कुलबुलाती कविता कामिनी अपनी विलासी लिबास को उतार अब

जनसाधारण की भावभूमि पर विचरण करने लगी थी। भारतेन्दु जी ने तत्कालीन साहित्य श्री के विलासी अलंकरण को उतार अपनी यथार्थ वाणी का मंगल सूत्र पहनाया एवं विदेशियों की दुर्नीति के खिलाफ आवाज बुलन्द करने के लिए उसमें ओजस्विता का संचार किया। उन्होंने अपने बहुआयामी व्यक्तित्व के चारों तरफ साहित्यकारों का एक मण्डल तैयार कर उनमें साहित्य-रचना की प्रेरणा दी। अतः भारतेन्दु एवं उनके मण्डल के साहित्यकारों के आधार पर उस युग की अग्रलिखित विशेषताएँ निर्धारित की गयी हैं -

1. राष्ट्रप्रेम की भावना - भारतेन्दु युग तक आते-आते अंग्रेजों की अत्याचारी नीतियों के प्रति अब भारतवासियों की आँखें खुल गयी थीं। भारतेन्दु युगीन सभी कवियों ने भारत माता की बेड़ियों को तोड़ने के लिये आजादी का तराना छेड़ा।

अंग्रेज यहाँ की सारी वस्तुओं को ढो-ढो कर अपने देश की श्रीवृद्धि करते रहे और हमारा देश दिन प्रतिदिन कंगाल बनता गया। भारतेन्दु जी ने इस **यथार्थ** का पर्दाफाश किया -

अंगरेज राज सुख साज, सबै विंधि भारी।
पै धन विदेश चलि जात, यहै अति ख्वारी।।

और अभागे भारतवासियों को अपने दुर्दिन पर विलाप करने के लिए भारतेन्दु जी ने पुकार लगाई -

रोवहु सब मिलि आवहु भारत भाई।
हा-हा भारत दुर्दशा न देखी जाई।।

शुक्ल जी ने भारतेन्दु की इसी देशभक्ति की प्रशंसा करते हुए लिखा है- "जीवन-धारा के बीच भारतेन्दु की वाणी का सबसे ऊँचा स्वर देशभक्ति का था।"

इसी प्रकार भारतेन्दु युगीन पं. प्रताप नारायण मिश्र, बाल मुकुन्द गुप्त, बदरी नारायण चौधरी आदि साहित्यकारों ने अपने व्यंग्य-वाणों की बौछार से अंग्रेजों के हृदय को छलनी करते हुए भारतवासियों के हृदय में जागरण-मंत्र का शंखनाद किया।

2. जनवाणी का स्वर - जनता की मूक वाणी को स्वर देने में भारतेन्दु युगीन साहित्यकारों का अमूल्य योगदान रहा है। भक्तिकालीन कवि ईश्वर की पूजा-अर्चना में लगे रहे, रीतिकालीन कवियों ने राजाओं के प्रशस्ति-गायन में अपना समय गँवाया, परन्तु भारतेन्दु युगीन साहित्यकारों ने जनता के सुख-दुःख,

हास-रुदन के साथ अपना स्वर मिलाते हुए उन्हें करीब से देखा-परखा। भारतेन्दु जी ने भारतवासियों को एक होने का संदेश दिया एवं घर की फूट को विनाश की जड़ बतलाया -

जगत में घर की फूट बुरी।
घर के फूटहिं सौं बिनसाई सुबरन लंक पुरी
फूटहिं सौं सब कौरव नासे भारत युद्ध भयौ।
जाको घाटो या भारत में अब लौं नहिं पुजयौ।।

3. सामाजिक चेतना - भारतेन्दु युगीन साहित्यकार अपने समाज एवं उसके सुख-दुःख के साथ जुड़े रहे। अपने समाज के उत्थान की कामना उन्हें हमेशा प्रेरित करती रही। समाज में प्रचलित बाल-विवाह, बहु-विवाह, स्त्री-शिक्षा, छुआछूत, सतीप्रथा आदि सामाजिक समस्याओं को इस युग के साहित्यकारों ने अपने साहित्य में स्थान दिया है। शापित जीवन व्यतीत करती हुई बाल विधवा की विपत्ति को देखकर पं. प्रताप नारायण मिश्र का हृदय दो टूक हो जाता है -

कौन करे जो नहिं कसकत सुनि विपत्ति बाल विधवन की।

4. हास्य-व्यंग्य - भारतेन्दु युगीन हास्य-व्यंग्य काफी पैना, मारक एवं प्रभावकारी रहा है। अंग्रेजों को अपने व्यंग्य-वाणों का निशाना बनाते हुए भारतेन्दु जी एक अंग्रेज के पास पत्र लिखते हैं - "खजाना तुम्हारा पेट है, लालच तुम्हारी क्षुधा है, सेना तुम्हारा चरण है, खिताब तुम्हारा प्रसाद है, अतएव हे विराट रूप अंगरेज ! हम तुमको प्रणाम करते हैं।"

बाबू बालमुकुन्द गुप्त जी ने लार्ड कर्जन एवं बंगाल के गवर्नर फुलर साहब पर तो अपने व्यंग्य-वाणों की वर्षा की ही, साहित्य के क्षेत्र में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को भी नहीं छोड़ा।

आलसियों पर भारतेन्दु जी के हास्य-व्यंग्य का एक नमूना द्रष्टव्य है -

दुनिया में हाथ पैर हिलाना नहीं अच्छा।
मर जाना पै उठ के कहीं जाना नहीं अच्छा।।

5. निजभाषा के उदघोषक - भारतेन्दु ही नहीं भारतेन्दु युगीन सभी कवि एवं साहित्यकार निज भाषा के प्रबल समर्थक रहे हैं। उस समय हिन्दी भाषा पर अंग्रेजी और उर्दू का वर्चस्व कायम होता जा रहा था। ऐसी विषम परिस्थिति में इन साहित्यकारों ने स्वभाषा-प्रेम का अमृत मंत्र फूँका। भारतेन्दु जी ने निज भाषा उन्नति का शंखनाद किया -

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को शूल।।

6. प्राचीन-नवीन का समन्वय - भारतेन्दु युगीन कवियों ने साहित्य की परंपरागत मान्यताओं को अपनाते हुए उसे सम-सामयिकता एवं आधुनिकता का नया बाना पहनाया। उन कवियों की कविताएँ भक्ति, शृंगार, वीरगाथा आदि प्राचीन परिपाटी को अपनाते हुए आधुनिक समाज की विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों पर भी विहंगम दृष्टिपात करती हैं। डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त के शब्दों में - "भारतेन्दु युगीन काव्य किसी-न-किसी रूप में वीरगाथा काल, भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल-चारों कालों के साहित्य का प्रतिनिधित्व करता है।"

इस प्रकार इस युग में आधुनिक चेतना के साथ भक्ति, शृंगार तथा वीर रस से युक्त साहित्य का सृजन भी अत्यधिक मात्रा में हुआ।

7. शृंगार भावना - यद्यपि शृंगार-चित्रण इन कवियों का मूल काम्य नहीं रहा है तथापि उसके वर्णन से ये अछूते भी नहीं रहे हैं। राधा-कृष्ण एवं गोपियों को आलम्बन बनाकर इन साहित्यकारों ने काफी साहित्य की रचना की। भारतेन्दु जी की नायिका की एक शृंगारिक झलक प्रस्तुत है -

इन नैननि में वह साँवरि मूरति,
देखति आनि अरी सो अरी।
अब लोग बचाव करो तो करो,
हम प्रेम के फंद परी सो परी।।

8. भक्ति भावना - इस काल के कवियों की भक्ति-भावना पर भक्ति का नकली आरोपण नहीं है। इन कवियों की भक्ति-भावना के तहत भी राष्ट्र प्रेम ही छिपा हुआ है। भारतेन्दु जी भगवान् केशव को भारतवासियों की दुर्दिनावस्था से अवगत कराते हुए उससे उबारने के लिए पुकार लगाते हैं -

कहाँ करुणानिधि केशव सोए ?
जागत नाहिं अनेक जतन करि भारतवासी रोए।

9. गद्य का विकास - इस युग में उपन्यास, नाटक, कहानी, निबन्ध आदि गद्य की विभिन्न विधाओं का काफी विकास हुआ। भारतेन्दु मण्डल के सभी साहित्यकारों ने अपनी अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम गद्य-साहित्य को बनाया। भारतेन्दु जी ने अपनी पत्रिका 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' में गद्य की जिस अनूठी शैली का दर्शन कराया है, उसके सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का विचार द्रष्टव्य है -

"हिन्दी गद्य का ठीक परिष्कृत रूप पहले पहल इसी चन्द्रिका में प्रकट हुआ। जिस प्यारी हिन्दी को देश ने अपनी विभूति समझा, जिसको जनता ने उत्कंठापूर्वक दौड़कर अपनाया उसका दर्शन इसी पत्रिका में हुआ।"

10. भाषा-शैली - इस युग के कवियों की भाषा सरल, स्पष्ट एवं बोधगम्य रही है। कविताओं में इन कवियों ने ब्रजभाषा के शब्दों का प्रयोग अधिक किया है, परन्तु गद्य की भाषा खड़ी बोली के शब्दों से युक्त है। इस युग के साहित्यकारों ने भाषा के परिमार्जन पर उतना जोर नहीं दिया जितना कि भाव के विस्तार पर दिया था।

काव्य में अलंकारों की दासता के पीछे इन कवियों ने दौड़ना श्रेयस्कर नहीं समझा, अलंकार स्वतः उनके भावों के पीछे दौड़ते हुए नजर आते हैं। दोहा, चौपाई, कवित्त, सवैया, कुंडलियाँ आदि इस युग के कवियों के प्रमुख एवं प्रिय छन्द रहे हैं। मुक्तक एवं गीति काव्यों की रचना भी इस युग में काफी हुई।

इस प्रकार सभी दृष्टियों से भारतेन्दु युग साहित्य श्री का सम्पन्न युग रहा है। भारतेन्दु युग गद्य साहित्य का वह युग रहा है, जहाँ से गद्य की सारी विधायें पुष्पित और पल्लवित होने का सौभाग्य प्राप्त करती हैं। इन गद्य विधाओं का मार्गदर्शन कराने में भारतेन्दु जी प्रकाश-स्तम्भ रहे हैं एवं उनके मण्डल के अन्य साहित्यकार उस प्रकाश की अनन्त रश्मियाँ।

प्रश्न 42. द्विवेदी कालीन साहित्य की सामान्य विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

अथवा

प्रश्न 43. द्विवेदी युग की सामान्य प्रवृत्तियों का परिचय दीजिए।

उत्तर - भारतेन्दु के अवसान के बाद सन् 1901 ई. से 1920 ई. तक के काल को हिन्दी साहित्य के इतिहास में द्विवेदी काल के नाम से जाना जाता है। भारतेन्दु जी ने साहित्य की जिन विधाओं को अपने अथक परिश्रम द्वारा एक मूर्त रूप दिया, उसे बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में 'महावीर' का सशक्त कंधा मिला। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसी सशक्त बल्ली को पाकर हिन्दी-साहित्य-लता लहलहाती हुई उत्तरोत्तर विकसित होने लगी। द्विवेदी जी ने भारतेन्दु कालीन असंयमित भाषा का परिष्कार कर उसे नूतन संस्कृत-गर्भित परिधान से महिमामंडित किया।

द्विवेदी जी स्वयं बंगला, मराठी, संस्कृत एवं उर्दू के विद्वान थे। अतः हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के साहित्य की अच्छी जानकारी होने के

कारण हिन्दी भाषा के संवर्द्धन में उनके द्वारा काफी सहायता मिली। उनकी प्रेरणा से ही श्री मैथिलीशरण गुप्त, पं. श्रीधर पाठक, हरिऔध, सियाराम शरण गुप्त, माखन लाल चतुर्वेदी, नाथूराम शर्मा, श्यामनारायण पाण्डेय आदि साहित्य जगत में अपना कीर्तिमान स्थापित कर सके। छायावादी कविगण प्रसाद, निराला, महादेवी वर्मा एवं पंत आदि द्विवेदी जी से काफी प्रभावित रहे।

'सरस्वती' पत्रिका के संपादक के रूप में द्विवेदी जी ने लगभग बीस वर्षों तक कार्य किया। अतः उनके सम्पर्क में बहुत से साहित्यकार आये। इस बीस वर्षों के युग को 'द्विवेदी युग' के नाम से जाना जाता है। संक्षेप में 'द्विवेदी युग' की सामान्य प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं-

1. देशभक्ति की भावना - इस काल की देशभक्ति की भावना भारतेन्दु कालीन देशभक्ति की भावना का ही विकसित रूप था। 'इस काल की राष्ट्रीय चेतना में जाति, धर्म, वर्ग, सम्प्रदाय आदि की भावना से ऊपर उठ, समस्त भारत को एक मान उसका प्रशस्ति-गायन किया गया है।'

अपने देश की अधोगति के सम्बन्ध में चिन्ता करते हुए एवं अतीत की गौरवमयी गाथा को याद करते हुए 'भारत-भारती' में श्री मैथिलीशरण गुप्त ने कहा है -

हम क्या थे, क्या हैं और क्या होंगे अभी
आओ विचारें मिलकर समस्याएँ सभी।

इस प्रकार इस युग के साहित्यकारों ने हिन्दू-मुस्लिम की संकीर्ण मनोवृत्ति से ऊपर उठकर भारतीय इतिहास के गौरवमय पृष्ठ को उलट कर देखा, जनसाधारण को उपादेयता से अवगत कराया एवं अपने अधिकारों के प्रति सचेष्ट होने के लिये उन्हें जाग्रत किया।

2. मानवतावादी दृष्टिकोण - द्विवेदी युगीन साहित्य का दृष्टिकोण 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की मानवतावादी मनोवृत्ति पर प्रतिष्ठित रहा है। ठाकुर गोपाल शरण सिंह मानव-सेवा को ही मुक्ति का द्वार मानते हुए अपने विशाल मानवतावादी दृष्टिकोण का परिचय देते हैं -

जग की सेवा करना ही बस है, सब सारों का सार।
विश्वप्रेम के बंधन ही में, मुझको मिला मुक्ति का द्वार।

'साकेत' के राम स्वर्ग का संदेश लेकर नहीं आते बल्कि इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने की कामना लेकर अवतरित होते हैं -

सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया।
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।

3. इतिवृत्तात्मकता - इस काल की कविता प्रधानतः इतिवृत्तात्मक रही है। इस काल के कवियों ने अतीत-गौरव का गान गाया, राष्ट्रीय चेतना का प्रचार किया, सामाजिक सुधारों की माँग उठायी और रीतिकालीन श्रृंगारिक प्रवृत्ति का विरोध किया। अतः इस युग का साहित्य यथार्थ की कठोर भूमि पर नैतिकता के सहारे खड़ा हुआ था। परिणामस्वरूप इसका प्रधान स्वर उपदेशपरक ही रहा। अतः काव्य में स्वाभाविक सरसता के स्थान पर शुष्कता एवं रुक्षता आ गयी और इस प्रकार इतिवृत्तात्मकता का जन्म हुआ।

4. सामाजिकता एवं सामयिक युगानुकूलता - बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दौर में जन-जीवन के सामने, अनेक सामाजिक समस्याएँ एक ही साथ समाज में जड़ जमाने लगी थीं। विधवा-विवाह, अछूतोद्धार, बाल-विवाह, स्त्री-शिक्षा आदि समस्याओं के घेरे में सामाजिक उन्नति अवरुद्ध हो चुकी थी। ऐसी परिस्थिति में इस युग के साहित्यकारों ने खुलकर सामाजिक रूढ़ियों एवं संकीर्ण मनोवृत्तियों का विरोध किया।

इस युग के साहित्यकारों ने समसामयिक सभी समस्याओं पर अपनी लेखनी चलायी है। गांधी जी द्वारा प्रवर्तित सत्याग्रह की प्रशंसा करते हुए गुप्त जी ने स्पष्ट लिखा है -

सत्याग्रह है कवच हमारा, कर देखो कोई भी वार।
हार मानकर शत्रु स्वयं ही यहाँ करेंगे मित्राचार।

5. नारी-स्वतंत्रता का स्वर - सदियों से उपेक्षित नारियों की मूक वाणी को इस युग के साहित्यकारों ने स्वर दिया। उर्मिला, यशोधरा, शकुंतला जैसी त्यागमयी ललनाओं को हमारे प्राचीन कवियों ने कोई गौरव नहीं प्रदान किया था। द्विवेदी जी की प्रेरणा से गुप्तजी ने इन नारियों के त्याग का नये सिरे से दिग्दर्शन कराया एवं बतलाया कि इन्हीं नारियों के सत् प्रेरणा से लक्ष्मण, गौतम एवं दुष्यन्त समाज में अपना कीर्तिमान स्थापित कर पाये।

नारियों के प्रति पुरुषों की स्वार्थी एवं एकाकी दृष्टि को देखकर 'यशोधरा' में गुप्त जी की लेखनी रो पड़ी थी -

अबला जीवन हाय ! तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।।

इस प्रकार प्रसाद, प्रेमचन्द, पंत आदि ने नारियों को अपने साहित्य में

सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठित किया।

6. प्रकृति-चित्रण - इस युग के साहित्यकारों ने प्रकृति के परंपरागत उद्दीपनकारी रूप का चित्रण न कर आलम्बन रूप का चित्रण अधिक किया है। 'हरिऔध' जी ने 'प्रिय प्रवास' में प्रकृति का बहुत ही मनोहारी रूप खींचा है। चूँकि इस युग के साहित्यकार तत्युगीन अन्य समस्याओं के चित्रण में लगे हुए थे इसलिए कहीं-कहीं इनका प्रकृति-चित्रण उपदेशात्मक एवं यांत्रिक हो गया है।

डॉ. केशरी नारायण शुक्ल के शब्दों में - "इस समय के अधिकांश कवि प्रकृति के ऊपरी रूप की झलक मात्र से संतुष्ट थे। उन्होंने प्रकृति की अंतरात्मा तक पहुँचने का प्रयत्न बहुत कम किया।"

7. काव्य-रूपों की विविधता - काव्य-रूपों की विविधता के दर्शन तो हमें भारतेन्दु युग में ही होने लगे थे, द्विवेदी युग में आते-आते उसका और विस्तार होने लगा था। इस काल में नाटक, महाकाव्य, गीतिकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक, एकांकी, उपन्यास, निबन्ध, आलोचना आदि विविध साहित्य-रूपों की रचना हुई। डॉ. कृष्णलाल के शब्दों में - "मुक्तकों के वन-खंड के स्थान पर महाकाव्य, खंडकाव्य, आख्यानक काव्य, प्रेमाख्यानक काव्य, प्रबन्ध काव्य, गीतिकाव्य और गीतों से सुसज्जित काव्योपवन का निर्माण होने लगा।"

8. खड़ी बोली की प्रतिष्ठा - भारतेन्दु युग में खड़ी बोली गद्य के रूप में विकास पाने लगी थी, परन्तु द्विवेदी युग में वह गद्य एवं पद्य दोनों रूपों में समान रूप से विकसित होती हुई आगे बढ़ी।

9. अनुवाद-कार्य - अनुवाद-कार्य के लिए यह काल विख्यात रहा। इस काल में श्रीधर पाठक ने गोल्ड स्मिथ की तीन किताबें हरमिट, ट्रेवलर, डेजर्टेड विलेज का अनुवाद क्रमशः एकान्तवासी योगी, श्रान्त पथिक तथा उजड़ा ग्राम के नाम से किया। द्विवेदी जी ने स्वयं कालिदास के 'कुमारसंभव' का अनुवाद 'कुमारसंभवसार' के नाम से किया।

10. भाषा-शैली - इस युग की महत्त्वपूर्ण विशेषता है खड़ी बोली का भाषागत संस्कार। द्विवेदी जी ने स्वयं भाषा के संस्कार पर जोर दिया एवं साहित्यकारों को उनकी भाषा सम्बन्धी भूलों से अवगत कराया। आचार्य शुक्ल के शब्दों में - "व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई के प्रवर्तक द्विवेदी जी ही थे। 'सरस्वती' के संपादक के रूप में उन्होंने आयी हुई पुस्तकों के भीतर व्याकरण और भाषा की अशुद्धियाँ दिखाकर लेखकों को बहुत कुछ सावधान कर दिया।"

फलस्वरूप व्याकरण सम्बन्धी पुस्तकें भी लिखी जाने लगीं। इसके साथ ही गद्य की विभिन्न शैलियों का प्रादुर्भाव हुआ। हिन्दी गद्य-शैली को विकसित करने के लिए "अंग्रेजी साहित्य की स्पष्ट भाव व्यंजकता, बंगला की सरलता और मधुरता, मराठी की गम्भीरता और उर्दू गद्य का प्रभाव ग्रहण किया गया।"

इस युग में अलंकारों एवं छन्दों के मोह प्रायः भंग होने लगे थे फिर भी उससे पूर्णतः मुक्ति नहीं मिली थी।

इस प्रकार आज हम जिस हिन्दी गद्य एवं पद्य साहित्य का रसास्वादन कर रहे हैं वह कदाचित् द्विवेदी युग की ही देन है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य को जो गौरव-गरिमा प्रदान की वह युग-युग के लिए आदर्श बना रहेगा।

प्रश्न 44. हिन्दी नाटकों के उद्भव और विकास पर एक निबन्ध प्रस्तुत कीजिए।

अथवा

प्रश्न 45. हिन्दी नाट्य साहित्य की परम्परा पर प्रकाश डालें।

उत्तर - हिन्दी नाट्य साहित्य का विकासात्मक अध्ययन करने के लिए उसे निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जाता है -

(1) भारतेन्दु के पूर्व हिन्दी नाटक
(2) भारतेन्दु युगीन हिन्दी नाटक
(3) द्विवेदी युगीन हिन्दी नाटक
(4) प्रसाद युगीन हिन्दी नाटक
(5) प्रसादोत्तर हिन्दी नाटक

(1) भारतेन्दु के पूर्व हिन्दी नाटक - भारतेन्दु के पूर्व सत्रहवीं शताब्दी से ही हिन्दी नाटकों की रचना होने लगी थी। देव कवि रचित 'देवमाया प्रपंच', ब्रजवासी दास कृत 'प्रबन्ध चन्द्रोदय', बनारसीदास चतुर्वेदी कृत 'समय सार' इत्यादि नाटक शृंगार काल में लिखे जा चुके थे, परन्तु भारतेन्दु के पूर्व केवल दो ही मौलिक नाटक लिखे गये थे, जिनमें प्रथम महाराजा विश्वनाथ सिंह द्वारा रचित 'आनन्द रघुनन्दन' नामक नाटक है तथा दूसरा भारतेन्दु जी के पिता श्री गोपालचन्द्र जी रचित 'नहुष' नामक नाटक है। नाटक के सभी तत्त्वों से परिपूर्ण 'आनन्द रघुनन्दन' को ही बहुत से विद्वानों ने हिन्दी का प्रथम मौलिक नाटक माना है।

(2) भारतेन्दु युगीन हिन्दी नाटक - हिन्दी के क्रांतिदर्शी साहित्यकार

भारतेन्दु जी से ही नाटकों की मौलिक उद्भावना मानी जाती है। उन्होंने अपने नाटकों द्वारा जन सामान्य में राष्ट्रीय, सामाजिक एवं धार्मिक चेतना जागृत की। उनके नाटक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों एवं उनकी समस्याओं के चित्रण करते हैं। डॉ. बच्चन सिंह के शब्दों में - "भारतेन्दु ने अपने नाटकों की कथावस्तु जीवन के विविध क्षेत्रों से ली। किसी नाटक में ऐहिकान्तिक प्रेम का निरूपण किया गया तो किसी में सामयिक, सामाजिक तथा धार्मिक समस्याओं का चित्रण, कहीं ऐतिहासिक और पौराणिक कहानी के आधार पर नाटक का ढाँचा तैयार किया गया है तो कहीं देश की दुर्दशा का मार्मिक चित्र उपस्थित किया गया है।"

भारतेन्दु जी के नाटकों को मुख्यतः पौराणिक, ऐतिहासिक एवं सामाजिक नामक तीन भागों में विभाजित किया गया है। सन् 1868 ई. में उन्होंने 'विद्यासुन्दर' नाम से एक बंगला नाटक का छायानुवाद किया। इसके अतिरिक्त उनके नाटक हैं - पाखण्ड विडम्बन, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, धनंजय विजय, मुद्रा राक्षस, सत्य हरिश्चन्द्र, प्रेम योगिनी, विषस्य विषमौषम्, कर्पूर मंजरी, चन्द्रावली, भारत दुर्दशा, अंधेर नगरी आदि। इन्हें एक शब्द में 'पावैधमुसप्रेविकचभाअंग' कह सकते हैं।

भारतेन्दु के नाटकों में तीव्रता, उत्तेजना, भावुकता और तीखे व्यंग्य की भरमार है। उनके नाटकों की विशाल व्यापक भूमि को देखते हुए डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त ने लिखा है - "यदि हम एक ऐसा नाटककार ढूँढ़ें जिसने नाट्य शास्त्र के गंभीर अध्ययन के आधार पर नाट्य कला पर सैद्धान्तिक आलोचना लिखी हो, जिसने प्राचीन और नवीन, स्वदेशी और विदेशी नाटकों का अध्ययन और अनुवाद किया हो, जिसने वैयक्तिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं को लेकर अनेक पौराणिक, मौलिक और ऐतिहासिक नाटकों की रचना की हो, और जिसने नाटकों की रचना ही नहीं, अपितु उन्हें रंगमंच पर खेलकर दिखाया हो - इन विशेषताओं से सम्पन्न नाटककार हिन्दी में ही नहीं समस्त विश्व साहित्य में केवल दो-चार मिलेंगे और उन सब में भारतेन्दु का स्थान ऊँचा होगा।"

भारतेन्दु युगीन नाटकों में लाला श्रीनिवास दास का 'प्रह्लाद चरित', 'संयोगिता स्वयंवर', प्रतापनारायण मिश्र का 'केलि प्रभाव', 'जुआरी खुआरी' राधाकृष्णदास का 'दुखिनी बाला', 'महाराणा प्रताप' आदि प्रमुख हैं। इस युग के अन्य नाटककारों में राधाचरण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, बदरी नारायण चौधरी तथा बाबू तोताराम के नाम उल्लेखनीय हैं।

(3) द्विवेदी युगीन हिन्दी नाटक - यद्यपि इस युग में नाटककार के रूप में एक केन्द्रीय व्यक्तित्व का अभाव रहा है, फिर भी इस समय लगभग डेढ़ सौ

मौलिक नाटक लिखे गये। इन नाटकों में श्री माखनलाल चतुर्वेदी कृत 'श्रीकृष्णार्जुन युद्ध', मैथिलीशरण गुप्त कृत 'तिलोत्तमा', माधव शुक्ल कृत 'महाभारत', बदरी नाथ भट्ट कृत 'चन्द्रगुप्त' और 'चुंगी की उम्मीदवारी', मिश्र बन्धुओं कृत 'शिवाजी' एवं जी.पी. श्रीवास्तव कृत 'उलट फेर' प्रसिद्ध हैं। द्विवेदी युग में संस्कृत, बंगला तथा अंग्रेजी नाटकों के अनुवाद खूब हुए।

(4) प्रसाद युगीन हिन्दी नाटक - डॉ. नेमिचन्द्र जैन के अनुसार - "भारतेन्दु के बाद जयशंकर प्रसाद ही हिन्दी के पहले ऐसे महत्त्वपूर्ण नाटककार हैं, जिन्होंने नाटक की विधा का गहरी सांस्कृतिक तलाश के लिए उपयोग किया।" वास्तव में भारतेन्दु जी के बाद हिन्दी नाट्य साहित्य की परंपरा में जीवंतता लाने का श्रेय प्रसाद जी का ही है। हिन्दी नाट्य साहित्य में प्रसाद जी ने प्रकाश-स्तम्भ के समान प्राचीन पद्धति के नान्दी-पाठ, मंगलाचरण, प्रस्तावना आदि की उपेक्षा की तथा पाश्चात्य एवं भारतीय नाट्य कला का सुन्दर-संबंध स्थापित करते हुए विभिन्न प्रकार की नयी मान्यतायें स्थापित कीं। डॉ. दशरथ ओझा के शब्दों में - "प्रसाद जी ने समन्वयात्मक शैली का अनुगमन किया। उन्होंने भारतीय रस विधान और पाश्चात्य शील वैचित्र्य के समन्वय का पथ अपनाया।"

उन्होंने दृश्यों के नियम में भी परिवर्तन किया। अभिनय की रोचकता बढ़ाने हेतु गीतों की योजना की। उन्होंने पंच संधियों, काल अवस्थाओं एवं संकलनत्रय का नियोजन किया। अपने नाटकों में उन्होंने पाश्चात्य एवं भारतीय अंतर्द्वन्द्वों का समन्वय कर उसे कलात्मक अभिव्यक्ति दी।

प्रसाद जी ने सन् 1910 ई. से लेकर 1933 ई0 तक नाटकों की रचना की जो इस प्रकार हैं - सुजन, कल्याणी, परिणय, करुणालय, प्रायश्चित, राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ, स्कंदगुप्त, एक घूँट, कामना, चन्द्रगुप्त तथा ध्रुवस्वामिनी। इन नाटकों को विभिन्न श्रेणियों में विभाजित किया गया है। जैसे - ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक आदि। परन्तु अपने सभी नाटकों में उन्होंने भारतीय अतीत का गौरव गान करते हुए सत् एवं असत् का संघर्ष दिखलाया है। उनके नाटक सुखान्त दुखान्त से परे प्रसादान्त हैं।

उनकी नाट्य शैली को देखकर कुछ आलोचकों ने अभिनेयता की दृष्टि से उसे कठिन बतलाया है। उनके अनुसार प्रसाद के नाटकों में रंगमंच-निर्माण सम्बन्धी कठिनाई बढ़ जाती है। परन्तु प्रसाद जी ने स्वयं लिखा है कि नाटक रंगमंच के अनुकूल न होकर नाटक के अनुकूल रंगमंच को होना चाहिए। प्रसाद

जी के नाटकों में भारतीय सभ्यता-संस्कृति के स्वर तो मुखरित हुए ही हैं, राष्ट्रीयता के पवित्र स्वर की गर्जना भी वर्तमान है।

प्रसादयुगीन अन्य नाटकों में पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'राजयोग', हरिकृष्ण प्रेमी के 'रक्षा बंधन', गोविन्द बल्लभ पंत के 'वरमाला', 'राजमुकुट' इत्यादि प्रसिद्ध हैं। इस युग में दो तरह के नाटककार हुए - एक वे जो भारतेन्दु काल से ही लिखते आ रहे थे, तथा दूसरे वे जो प्रसाद काल से लिखना प्रारंभ किया और उनके बाद तक लिखते रहे।

(5) प्रसादोत्तर हिन्दी नाटक - प्रसादोत्तर काल में नाटकों की रचना विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित होने लगी थी। पं. गोविन्द बल्लभ पंत ने सामाजिक एवं ऐतिहासिक नाटकों की रचना की। उनके नाटकों में 'राजमुकुट', 'अधूरी मूर्ति', 'अंगूर की बेटी' आदि प्रमुख हैं। हरिकृष्ण प्रेमी प्रसादोत्तर काल के दूसरे सफल नाटककार हैं। उन्होंने 'प्रतिशोध', 'आन का मान', 'आहुति', 'स्वप्न भंग' आदि नाटकों की रचना की। प्रेमी जी के पश्चात् श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र का नाम आता है, जिन्होंने 'राक्षस का मंदिर', 'संन्यासी', 'मुक्ति का रहस्य', 'सिन्दूर की होली' आदि समस्या प्रधान नाटकों की रचना की। मिश्र जी के पश्चात् उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास, वृन्दावन लाल वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क आदि महत्त्वपूर्ण नाटककार हुए।

स्वातंत्र्योत्तर युग में हिन्दी नाटकों में काफी विकास हुआ। स्वातंत्र्योत्तर नाटककारों में चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, जगदीश चन्द्र माथुर, मोहन राकेश, विनोद रस्तोगी, लक्ष्मीनारायण लाल, धर्मवीर भारती आदि प्रमुख हैं। इस युग के नाटककारों ने विभिन्न समस्याओं पर आधारित नाटकों की रचना की।

इस प्रकार हिन्दी नाटक की विकास-यात्रा यद्यपि थोड़े दिनों से है फिर भी उसमें उसकी काफी अभिवृद्धि हुई है और निरन्तर हो रही है।

प्रश्न 46. हिन्दी एकांकी नाटक के उद्‌भव एवं विकास पर एक निबन्ध प्रस्तुत कीजिए।

अथवा

प्रश्न 47. हिन्दी एकांकी नाटक साहित्य की परम्परा पर प्रकाश डालिए।

उत्तर - हिन्दी एकांकियों के उद्‌भव पर विचार करते हुए यह कहा जा सकता है कि आधुनिक एकांकी मशीनी युग के द्रुतगामी अवकाशहीन व्यस्त जीवन की उपज है। हिन्दी में एकांकी नाटक का विकास प्रथम महायुद्ध के बाद

से हुआ माना जाता है। कुछ विद्वानों ने हिन्दी एकांकी का उद्भव संस्कृत एकांकियों से माना है और डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत तथा डॉ. रांगेय राघव प्रभृति विद्वानों ने इसे पूर्णतः पश्चिम की देन माना है। हिन्दी एकांकी साहित्य का विकासात्मक अध्ययन इस प्रकार किया जा सकता है -

(1) भारतेन्दु युगीन एकांकी नाटक - भारतेन्दु जी स्वयं नाटक के विभिन्न रूपों के जन्मदाता थे। भारतेन्दु जी ने स्वयं 'प्रेम योगिनी', 'भारत-दुर्दशा' 'नीलदेवी' इत्यादि श्रेष्ठ एकांकियों की रचना की थी। इन एकांकियों पर बंगला नाटकों एवं पारसी नाटकों का भी प्रभाव दिखता है।

भारतेन्दु युग के अन्य नाटककारों में श्रीनिवासदास, बदरी नारायण चौधरी, राधा चरण गोस्वामी, प्रताप नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट आदि ने भी श्रेष्ठ एकांकी नाटकों की रचना की। इन एकांकियों में तत्कालीन राष्ट्रीय भावनाओं के साथ हास्य-व्यंग्य की यथार्थ अभिव्यक्ति हुई है।

(2) द्विवेदी युगीन एकांकी नाटक - द्विवेदी युग में भाषा-सुधार पर ही अधिक जोर दिया गया अतः एकांकियों की कालजयी रचना इस युग में न हो सकी, फिर भी विभिन्न ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक एवं हास्यपरक एकांकियों की रचना इस युग में हुई। इस युग के प्रमुख एकांकीकारों में मंगल प्रसाद विश्वकर्मा, सियारामशरण गुप्त, रामसिंह वर्मा, रूपनारायण पाण्डेय, बेचन शर्मा उग्र, सुदर्शन जी आदि उल्लेखनीय हैं।

(3) प्रसाद युगीन एकांकी नाटक - जिस प्रकार नाटक के क्षेत्र में प्रसाद जी ने अपना अविस्मरणीय योगदान दिया इसी प्रकार एकांकी के क्षेत्र में भी वे अपना नाम अमर कर गये। हिन्दी एकांकी के विकास का तीसरा चरण श्री जयशंकर प्रसाद विरचित 'एक घूँट' एकांकी के प्रकाशन से होता है। डॉ. हरदेव बाहरी के शब्दों में - "यों तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बदरीनारायण चौधरी, राधा चरण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट और राधाकृष्ण दास ने पिछली शताब्दी में ही ऐसे रूपक लिखे थे, जो आजकल के एकांकियों से मिलते-जुलते हैं, परन्तु उन्हें आदर्श एकांकी नहीं माना जा सकता। हिन्दी एकांकी का प्रादुर्भाव जयशंकर प्रसाद के 'एक घूँट' से होता है।" डॉ. नगेन्द्र ने भी इस मत को स्वीकार किया है।

डॉ. राम कुमार वर्मा द्वारा लिखित 'बादल की मृत्यु' प्रसाद जी के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण एकांकी है जिसका प्रकाशन सन् 1930 ई. में हुआ। प्रसाद युग में अंग्रेजी एकांकियों के काफी अनुवाद हुए। इस युग के अन्य एकांकीकारों में

उदयशंकर भट्ट, डॉ. रामकुमार वर्मा, जगदीशचन्द्र माथुर, उपेन्द्रनाथ अश्क आदि प्रमुख हैं, परन्तु ये सभी एकांकीकार प्रसाद जी के उपरान्त भी लिखते रहे।

(4) प्रसादोत्तर हिन्दी एकांकी - हिन्दी एकांकी के इतिहास में अगला मोड़ भुवनेश्वर प्रसाद के 'कारवाँ' द्वारा आया। 'कारवाँ' एकांकी संग्रह सन् 1935 ई. में प्रकाशित हुआ। इस एकांकी संग्रह पर पश्चिमी प्रभाव बहुत गहरा है। मई सन् 1938 ई. में 'हंस' का एकांकी विशेषांक प्रकाशित हुआ। इस अंक के प्रकाशन से हिन्दी एकांकी में स्थिरता आई और उसे एक स्वतंत्र विधा की स्वीकृति मिली।

प्रसादोत्तर नाटककारों में वर्मा जी के अतिरिक्त श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेन्द्र नाथ अश्क, उदयशंकर भट्ट, गोविन्द दास, जगदीशचन्द्र माथुर, गणेश प्रसाद द्विवेदी, आचार्य सीताराम चतुर्वेदी, श्री रामवृक्ष बेनीपुरी आदि प्रमुख हैं। विभिन्न एकांकीकारों में अब निरन्तर वृद्धि हो रही है।

वास्तव में एकांकी के जन्म और उसके प्रसार में आधुनिक जीवन की व्यस्तता का प्रमुख हाथ है। आधुनिक व्यस्त जीवन में समयाभाव के कारण साहित्य की प्रत्येक विधा में लघु रूपों का विकास बड़ी तेजी से हुआ है। बड़े-बड़े उपन्यासों की अपेक्षा आज लोग छोटी कहानियों को पढ़ना अधिक पसन्द करते हैं। यही कारण है कि नाटक की अपेक्षा एकांकी विधा का भविष्य अधिक उज्ज्वल है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद से एकांकी विधा में नये अध्यायों का आगमन हुआ है। अब एकांकियों की रचना मात्र सामाजिक परिवेश में ही नहीं, बल्कि मनोवैज्ञानिक परिवेश में भी होने लगी है। साहित्य की हरेक विधा पर से इतिवृत्तात्मकता उठ चुकी है, कहीं है भी तो नये संदेश के साथ। आधुनिक एकांकीकारों में श्री धर्मवीर भारती, लक्ष्मीनारायण लाल, सत्येन्द्र शरत्, अज्ञेय, भारतभूषण अग्रवाल, विनोद रस्तोगी, जयनाथ नलिन, कर्तार सिंह दुग्गल तथा अमृत लाल नागर प्रमुख हैं।

इस प्रकार आधुनिक युग में एकांकियों का उत्तरोत्तर विकास होता जा रहा है। हिन्दी साहित्य में एकांकी नाटकों की विविध विधाओं जैसे - गीतिनाट्य, रेडियो रूपक, आदि का विकास निरन्तर होता जा रहा है। अतः इसका भावी मार्ग आशाजनक है।

प्रश्न 48. हिन्दी उपन्यास-साहित्य के उद्भव और विकास पर एक विवेचनात्मक निबन्ध लिखिए।

अथवा

प्रश्न 49. हिन्दी के उपन्यास साहित्य की परम्परा पर प्रकाश डालिए।

उत्तर - हिन्दी उपन्यासों के स्वस्थ परम्परा की शुरुआत देखने के लिए हमें संस्कृत एवं प्राकृत तथा अपभ्रंश आख्यायिकाओं तक नजर दौड़ाने की कोई आवश्यकता नहीं है। भले ही हिन्दी उपन्यासों पर संस्कृत या अन्य भारतीय भाषाओं के प्रभाव हों परन्तु उस पर अंग्रेजी उपन्यास का भी कम प्रभाव नहीं रहा है।

हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यास के सम्बन्ध में विद्वानों में अब तक मतभेद बना ही हुआ है। मौलिकता की दृष्टि से हिन्दी उपन्यास की प्रारंम्भिक अवस्था में दो उपन्यास खरे उतरते हैं - एक 'भाग्यवती' एवं दूसरा 'परीक्षा गुरु'। डॉ. रामचन्द्र तिवारी ने पं. श्रद्धाराय फिल्लौरी की रचना 'भाग्यवती' को हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास माना है, जिसकी रचना सन् 1877 ई. में एवं प्रकाशन 1887 ई. में हुआ। परन्तु लाला श्रीनिवासदास रचित 'परीक्षा गुरु' का प्रकाशन 1882 ई. में हुआ। अतः रचना की दृष्टि से 'भाग्यवती' ही सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास ठहरता है, परन्तु 'परीक्षा गुरु' के बाद प्रकाशित होने के कारण बहुत से विद्वान उसे प्रथम उपन्यास नहीं मानते। यद्यपि भाग्यवती के पूर्व भी उपन्यास की रचना हुई परन्तु उसमें न तो मौलिकता ही है न औपन्यासिक कला ही।

हिन्दी उपन्यास साहित्य का विकासात्मक अध्ययन करने के लिए उसे निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया गया है -

(1) प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यास (1877 से 1918 ई. तक)

(2) प्रेमचन्द युगीन उपन्यास (1918 ई. से 1936 ई. तक)

(3) प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास (1936 से अब तक)

(1) प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यास - प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यासों को डॉ. त्रिभुवन सिंह ने तीन भागों में विभाजित किया है - प्रयोगात्मक, कल्पना प्रधान और उपदेशात्मक। प्रयोगात्मक युग के उपन्यासों में पं. श्रद्धाराम फिल्लौरी का 'भाग्यवती', लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षा गुरु', पं. बालकृष्ण भट्ट का 'नूतन ब्रह्मचारी', हरिऔध का 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' एवं मेहता लज्जाराम कृत 'धूर्त रसिक लाल' प्रमुख हैं। इन उपन्यासों का कालक्रम सन् 1877 से 1899 के बीच रहा है।

कल्पना प्रधान उपन्यासों में श्री देवकीनन्दन खत्री कृत 'चन्द्रकान्ता

सन्तति' गोपालराम गहमरी कृत 'भयंकर भेद' 'जमुना का खून' तथा किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'अँगूठी का नगीना' उल्लेखनीय हैं। इन उपन्यासों का मुख्य उद्देश्य पाठकों का मनोरंजन करना रहा है। इन उपन्यासों में लेखकों ने तिलस्म एवं ऐय्यारों के चमत्कार दिखलाए हैं।

उपदेशात्मक उपन्यासों में श्री ब्रजनन्दन सहाय कृत 'राधाकांत', ईश्वरी प्रसाद शर्मा कृत 'सूर्यमयी' आदि प्रसिद्ध हैं। इस काल के उपन्यासों में उपदेश की प्रधानता रही है।

(2) प्रेमचन्द युगीन उपन्यास - हिन्दी उपन्यास जगत में श्री प्रेमचन्द का आगमन एक अद्‌भुत घटना है। इनका प्रथम उपन्यास 'सेवासदन' सन् 1918 ई. में प्रकाशित हुआ। इसके उपरान्त उन्होंने वरदान, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि, कायाकल्प, निर्मला, प्रतिज्ञा, गबन, गोदान एवं मंगलसूत्र आदि उपन्यासों की रचना की। इनके उपन्यासों की सामाजिक चेतना के औदात्य को देखकर ही बाबू गुलाब राय ने 'सेवासदन' को सच्चे अर्थों में हिन्दी का पहला उपन्यास कहा है। इनकी अंतिम रचना 'मंगलसूत्र' अधूरी है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में जीवन के हरेक पहलू पर विधिवत् प्रकाश डाला गया है। झोपड़ी से लेकर महलों तक की एक-एक समस्याओं से परिचित प्रेमचन्द पाठकों को प्रत्येक समस्याओं से परिचय कराते चलते हैं। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में - "प्रेमचन्द शताब्दियों से पददलित, अपमानित और निष्पोषित कृषकों की आवाज थे, पर्दे में कैद, पद-पद पर लांछित और असहाय नारी जाति की महिमा के जबरदस्त वकील थे, गरीबों और बेबसों के महत्त्व के प्रचारक थे। अगर आप उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाषा-भाव, रहन-सहन, आशा-आकांक्षा, दुःख-सुख और सूझ-बूझ जानना चाहते हैं तो प्रेमचन्द से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिल सकता है। झोपड़ियों से लेकर महलों, खोमचे वाले से लेकर बैंकों, गाँव से लेकर धारा सभाओं तक, आपको इतने कौशलपूर्वक और प्रामाणिक भाव से कोई नहीं ले जा सकता।" प्रेमचन्द के उपन्यासों में तत्कालीन किसान समस्या, दहेज प्रथा, अनमेल विवाह, जमींदारों के द्वारा शोषण, अस्पृश्यता की भावना, राजनीतिक घपलेबाजी आदि विभिन्न समस्याओं को उठाया गया है।

प्रेमचन्द युग के विभिन्न उपन्यासों में जयशंकर प्रसाद के 'कंकाल', 'तितली' और 'इरावती', विश्वम्भरनाथ कौशिक के 'माँ', 'भिखारिणी', राधिकारमण प्रसाद सिंह के 'राम रहीम', सियारामशरण गुप्त के 'गोद', 'नारी' आदि प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त उग्र जी कृत 'दिल्ली का दलाल' चतुरसेन शास्त्री कृत

'परख', 'वैशाली की नगरवधू' आदि उल्लेखनीय हैं। इस युग के अन्य उपन्यासकारों में सुदर्शन, भगवतीचरण वर्मा, वृन्दावन लाल वर्मा आदि प्रमुख हैं।

(3) प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास – प्रेमचन्दोत्तर काल में उपन्यास-लेखन के क्षेत्र में काफी प्रगति हुई। इस युग में उपन्यास की नयी-नयी प्रवृत्तियाँ प्रस्फुटित होने लगी थीं और उन्हें काफी विकास भी मिला। इस युग में भी प्रेमचन्द युगीन बहुत से उपन्यासकार लिखते रहे। प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में जैनेन्द्र कुमार के 'कल्याणी', 'विवर्त', 'सुखदा', इलाचन्द जोशी के 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया' यशपाल के 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', 'दिव्या', अज्ञेय के 'शेखर एक जीवनी', 'नदी के द्वीप', उपेन्द्रनाथ अश्क के 'गिरती दीवारें', 'सितारों के खेल' आदि प्रमुख हैं।

प्रेमचन्द के युग में ही उपन्यास की नयी-नयी विभिन्न प्रवृत्तियाँ पनपने लगी थीं जो उनके बाद काफी विकसित हुईं और उन्हें विभिन्न नामों से अभिहित किया जाने लगा। अध्ययन की सुविधा के लिए प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों को समाजवादी, प्रकृतिवादी, अतियथार्थवादी, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक, आंचलिक तथा लघु उपन्यास जैसी श्रेणियों में विभक्त किया गया है। इन कोटियों के कुछ उपन्यास यद्यपि प्रेमचन्द युग में ही लिखे जाने लगे थे परन्तु उनके उत्तर-काल में उनका काफी विकास हुआ। यहाँ उनका संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत है –

(1) सामाजिक यथार्थवाद – सामाजिक यथार्थवाद की नींव प्रेमचन्द युग में ही पड़ चुकी थी। उनके उपरान्त सर्वश्री रांगेय राघव, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, राधिका रमण सिंह, आदि उपन्यासकारों ने इस परम्परा को विकसित किया।

(2) प्रकृतिवादी उपन्यास – डॉ. त्रिभुवन सिंह ने चतुरसेन शास्त्री, पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र, इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय को इस प्रवृत्ति का उपन्यासकार बताया है। परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि दूसरी प्रवृत्ति के उपन्यासों की रचना इन उपन्यासकारों ने की ही नहीं। चतुरसेन शास्त्री के 'बुधुआ की बेटी', 'चन्द हसीनों के खतूत', इलाचंद्र जोशी के 'घृणामयी', 'धर्मवीर' भारती के 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' आदि प्रकृतिवादी उपन्यास हैं।

(3) अतियथार्थवादी उपन्यास – इस कोटि के उपन्यासों में द्वारिका प्रसाद लिखित 'घेरे के बाहर' तथा केशरी प्रसाद चौरसिया का 'चुटकी भर चाँदनी' प्रमुख हैं।

(4) मनोवैज्ञानिक उपन्यास – इस कोटि के उपन्यासों में इलाचन्द्र जोशी

के 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'संन्यासी' अज्ञेय के 'शेखर एक जीवनी' 'नदी के द्वीप', जैनेन्द्र कुमार के 'सुनीता', 'कल्याणी' 'विवर्त', 'सुखदा' आदि प्रमुख हैं।

(5) ऐतिहासिक उपन्यास - ऐतिहासिक उपन्यासों में चतुरसेन शास्त्री के 'वयं रक्षामः', 'सोना और खून' अमृतलाल नागर का 'सुहाग के नूपुर', 'शतरंज के मोहरे', रांगेय राघव का 'मुर्दों का टीला' आदि प्रमुख हैं।

(6) आंचलिक उपन्यास - आंचलिक उपन्यासों में श्री फणीश्वरनाथ रेणु का 'मैला आँचल' देवेन्द्र सत्यार्थी का 'ब्रह्मपुत्र', उदयशंकर भट्ट का 'सागर लहरें', नागार्जुन का 'बाबा बटेसरनाथ', 'रतिनाथ की चाची', रांगेय राघव का 'कब तक पुकारूँ' आदि विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं।

वर्तमान युग में श्री श्रीलाल शुक्ल, राजेन्द्र यादव, निर्मल वर्मा, उषा प्रियम्वदा, शिवानी, मोहन राकेश, श्रीकांत वर्मा, रमेश वक्षी, दूधनाथ सिंह, मन्नू भंडारी जैसे प्रमुख उपन्यासकार हुए हैं। अत्याधुनिक युग में उपन्यास की दिशा गौरवपूर्ण, सराहनीय एवं वैविध्यपूर्ण होती जा रही है। इस समय हिन्दी के उपन्यास साहित्य को हम विश्व के किसी भी गौरव-प्राप्त साहित्य के समक्ष रखकर तुलना कर सकते हैं।

प्रश्न 50. हिन्दी कहानी के उदभव और विकास पर एक सारगर्भित निबन्ध प्रस्तुत कीजिए।

अथवा

प्रश्न 51. हिन्दी कहानी साहित्य की परम्परा पर विचार प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर - कहानी कहना और सुनना, मानव की प्रमुख प्रवृत्तियों में से एक रोचक प्रवृत्ति है। यही कारण है कि मौखिक रूप से कहानियाँ तो जन-मानस में प्रचलित रही ही हैं, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि प्राचीन भारतीय भाषाओं में इसके लिखित रूप भी मिलते हैं। यद्यपि हिन्दी कहानी के प्रारंभिक रूप के दर्शन हमें जातक कथाओं, वृहद् कथा, चौरासी वैष्णवन की वार्ता, गोरा बादल की कथा एवं लल्लू जी लाल रचित 'प्रेमसागर' तथा सदल मिश्र कृत 'सुखसागर' में हो जाते हैं, परन्तु हिन्दी कहानी साहित्य के अन्दर इन्हें कभी भी नहीं रखा जा सकता। कुछ विद्वानों ने इंशा अल्ला खाँ रचित 'रानी केतकी की कहानी' को हिन्दी की प्रथम कहानी की स्वीकृति दी है परन्तु यह मत भी अब अमान्य सिद्ध हो चुका है।

वास्तव में सन् 1900 ई. में 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन के साथ ही हिन्दी कहानी का वास्तविक प्रारंभ माना जाता है। कहानी के क्षेत्र में यह बहुत विवाद का विषय बना हुआ है कि हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी किसे माना जाय ? आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सन् 1900 ई. में 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित पं. किशोरी लाल गोस्वामी की कहानी 'इंदुमती' को प्रथम मौलिक कहानी मानते हैं, यदि इस पर बंगला कहानी की छाया न हो। डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत ने 'इंदुमती' पर शेक्सपियर के नाटक 'टेम्पेस्ट' की छाया बतलाते हुए उसे प्रथम मौलिक कहानी मानने से इंकार कर दिया है। परन्तु आधुनिक खोजों के अनुसार सन् 1901 में 'छत्तीसगढ़ मित्र' में प्रकाशित माधव राव सप्रे की कहानी 'एक टोकरी भर मिट्टी' हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी स्वीकार कर ली गयी है, और अभी तक यही मत प्रचलित है।

हिन्दी कहानी साहित्य का विकासात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने के लिए उसे निम्नलिखित शीर्षकों में बाँटा जा सकता है -

(1) प्रयोग-काल : प्रेमचन्द की पूर्ववर्ती कहानियाँ
(2) विकास-काल : प्रेमचन्द युगीन कहानियाँ
(3) विविध प्रवृत्ति-काल : प्रेमचन्दोत्तर कहानियाँ
(4) साठोत्तरी कहानी : विविध प्रयोग।

(1) प्रयोग-काल : प्रेमचन्द की पूर्ववर्ती कहानियाँ - वस्तुतः 'सरस्वती' पत्रिका के संपादन के बाद से ही आधुनिक हिन्दी कहानी की शुरुआत होती है, फिर भी इसकी मूल परंपरा भारतेन्दु युग के पहले से चली आ रही है। सन् 1803 और 1818 के बीच लिखित इंशा अल्ला खाँ की कहानी 'रानी केतकी की कहानी' मिलती है। इसके पश्चात् राजा शिव प्रसाद 'सितारे हिन्द' रचित 'राजा भोज का सपना', गौरीदत्त की 'देवरानी जेठानी', भारतेन्दु की 'एक अद्‌भुत स्वप्न', राधाचरण गोस्वामी की 'यमलोक की यात्रा' आदि कहानियाँ देखने को मिलती हैं, परन्तु इन कहानियों में कहानी-कला के तत्त्व का सर्वथा अभाव पाया जाता है।

इस प्रकार हिन्दी में मौलिक कहानी की उद्‌भावना सन् 1900 ई. से 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन के साथ होती है। 'सरस्वती' में सन् 1900 ई. में पं. किशोरी लाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' कहानी प्रकाशित हुई। इसके बाद आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय', बंगमहिला की 'दुलाईवाली' गिरिजादत्त बाजपेयी की 'पंडित पंडितानी' आदि विभिन्न कहानियाँ प्रकाश में

आने लगी थीं। इस समय जयशंकर प्रसाद की कहानी 'ग्राम' सन् 1911 ई. में 'इन्दु' पत्रिका में प्रकाशित हुई। सन् 1915 में पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की कहानी 'उसने कहा था' प्रकाश में आयी जो उत्कृष्ट कोटि की कहानी है। विभिन्न विवादों के पश्चात् सन् 1901 ई. में 'छत्तीसगढ़ मित्र' में प्रकाशित माधव राव सप्रे रचित 'एक टोकरी भर मिट्टी' हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी मान ली गयी है।

इस युग में पं. किशोरी लाल गोस्वामी की 'गुलबहार', वृन्दावनलाल वर्मा की 'राखीबन्द भाई' तथा राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह की 'कानों में कंगना' आदि कहानियाँ प्रकाश में आ चुकी थीं।

(2) विकासकाल : प्रेमचन्द युगीन कहानियाँ - हिन्दी कहानी क्षेत्र में प्रेमचन्द का आगमन एक क्रांतिकारी कदम था। सन् 1916 ई. में उनकी कहानी 'पंच परमेश्वर' प्रकाशित हुई। अतः प्रेमचन्द के युग को सन् 1916 से 1936 ई. तक माना जाता है। इस कालावधि में उन्होंने लगभग 300 कहानियाँ लिखीं। उनकी प्रारंभिक कहानियाँ गांधीवाद से प्रभावित आदर्शमुखी हैं परन्तु बाद में यही आदर्शोन्मुख यथार्थवादी और कहीं-कहीं बिल्कुल यथार्थवादी बन गयी हैं। 'कफन', 'पूस की रात' आदि इनकी यथार्थवादी कहानियाँ हैं। प्रेमचन्द ने अपनी कहानियों में विभिन्न सामाजिक समस्याओं को उठाया है। उनकी कहानियों के पात्र सर्वसाधारण वर्ग के लोग हैं, फिर भी उसमें ज़मीदारों एवं उच्च वर्ग के अन्य लोगों के आडम्बरपूर्ण जीवन को भी सूक्ष्म रूप से उभारा गया है। प्रेमचन्द के पात्रों में उनका युग झाँक रहा है।

प्रेमचन्द के समानान्तर दूसरे प्रमुख कहानीकार हैं - प्रसाद जी। उनकी प्रमुख कहानियों में 'रसिया बालम', 'आकाश दीप', 'पुरस्कार', 'इन्द्रजाल', 'गुण्डा', 'विराम चिह्न' आदि उल्लेखनीय हैं।

प्रेमचन्द युग के अन्य कहानीकारों में सुदर्शन, विश्वम्भरनाथ कौशिक, ज्वालादत्त शर्मा, गोविन्द बल्लभ पंत, वृन्दावन लाल वर्मा, उग्र, जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी एवं यशपाल आदि प्रमुख हैं। ये कहानीकार प्रेमचन्द के बाद भी लेखन-कार्य में संलग्न रहे।

(3) विविध प्रवृत्ति-काल : प्रेमचन्दोत्तर काल - प्रेमचन्द के बाद कहानी-कला विभिन्न प्रवृत्तियों को लेकर आगे बढ़ी। इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र कुमार एवं अज्ञेय जी फ्रायडवाद से प्रभावित हो मनोविश्लेषणात्मक कहानियाँ लिखने लगे थे। इलाचन्द्र जोशी की पहली मनोविश्लेषणात्मक कहानी 'सजनवाँ' सन् 1920 ई. में प्रकाशित हुई। लक्ष्मीनारायण लाल के शब्दों में 'जैनेन्द्र मानव-जीवन दर्शन

के सबसे बड़े कहानीकार हैं।' मनोविश्लेषणात्मक कहानियों में पात्रों के अंतर्द्वन्द्व, घात-प्रतिघात, यौन-कुंठा एवं मानसिक उलझन को दिखाया गया है।

इस युग की कहानियाँ साम्यवादी विचारधारा से भी प्रभावित हुई हैं। यशपाल की कहानियों में यह विचारधारा अधिक मुखर हुई है।

इस युग में ऐतिहासिक कहानियों की भी परम्परा चली जिसका बीज-वपन प्रसाद की रचनाओं में देखा जा सकता है। वृन्दावन लाल वर्मा ने ऐतिहासिक कहानियों की परम्परा को आगे बढ़ाया। उनकी प्रमुख कहानियों में 'कलाकार का दण्ड', 'जैनावादी बेगम', 'शेरशाह का न्याय' आदि उल्लेखनीय हैं जिनमें ऐतिहासिकता की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई है।

सन् 1950 के बाद की कहानियों को लेकर 'नयी कहानी' का आन्दोलन चला। डॉ. नामवर सिंह ने शिवप्रसाद सिंह की कहानी 'दादी माँ' से 'नयी कहानी' का प्रारंभ माना है तो कुछ आलोचकों ने उषा प्रियम्वदा की कहानी 'वापसी' से। इस युग की कहानियों में जन साधारण की कुंठा, अनास्था, हताशा, ऊब, टूटन, यांत्रिकता, संन्यास आदि की अभिव्यक्ति हुई है। इस समय के कहानीकारों में मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, निर्मल वर्मा, उषा प्रियम्वदा, मन्नू भंडारी, नरेश मेहता आदि प्रमुख हैं।

(4) साठोत्तरी कहानी - सन् 1960 ई. के बाद कहानीकारों ने सचेतन कहानी, अकहानी, समकालीन कहानी, समान्तर कहानी आदि विभिन्न कहानी प्रवृत्तियों को जन्म दिया। सन् 1974 ई. तक हिन्दी कहानी साहित्य में 'आम आदमी' का नारा बुलन्द हुआ। अब कहानी विभिन्न खेमों में भटकती हुई प्रेमचन्द युग के समान 'सामान्य जन' से जोड़ी जाने लगी है। साठोत्तरी कहानियों में हमें जनसाधारण के सुख-दुःख की प्रत्येक धड़कन सुनाई दे रही है।

इस प्रकार अल्प समय में ही हिन्दी कहानी शिल्प और कथ्य दोनों दृष्टियों से काफी विकसित हुई है। इसके निरन्तर विकास की प्रक्रिया को देखते हुए विश्व के किसी भी कहानी साहित्य से इसकी तुलना कर सकते हैं।

प्रश्न 52. हिन्दी निबन्ध-साहित्य के उद्भव एवं विकास पर संक्षिप्त प्रकाश डालिए।

उत्तर - अन्य साहित्यिक विधाओं की तरह हिन्दी का निबन्ध साहित्य भी भारतेन्दु युग की देन है। भारतेन्दु युग की विभिन्न सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के फलस्वरूप विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन होने लगा। इन पत्रिकाओं के माध्यम से निबन्ध की रचना प्रारम्भ हुई। अतः भारतेन्दु

युग से लेकर अब तक निबन्ध साहित्य की जो क्रमिक विकास-परम्परा रही है, उसे अध्ययन की सुविधा के लिए निम्नलिखित खण्डों में विभाजित कर सकते हैं -

(1) भारतेन्दु युग, (2) द्विवेदी युग, (3) शुक्ल युग, (4) शुक्लोत्तर युग या वर्तमान युग।

1. भारतेन्दु युग - भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से ही 'हिन्दी प्रदीप' 'ब्राह्मण', 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' आदि विभिन्न पत्रिकाओं का प्रकाशन होने लगा था। स्वयं भारतेन्दु जी ने अनेक विषयों पर उच्चकोटि के कलात्मक निबन्ध लिखे। उनका 'नाटक' शीर्षक निबन्ध हिन्दी का पहला मौलिक आलोचनात्मक निबन्ध माना जाता है।

इस युग के विभिन्न निबन्धकारों में बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, बदरी नारायण चौधरी, बाल मुकुन्द गुप्त, जगमोहन सिंह, अम्बिकादत्त व्यास, श्रीनिवासदास, केशवराम भट्ट तथा राधाचरण गोस्वामी प्रमुख हैं। पं. बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र इस युग के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निबन्धकार हैं जिन्होंने निबन्ध शैली को नवीन रूप प्रदान किया। इस युग के लेखकों में जिन्दादिली थी, इसलिए इनके निबन्धों में हास्य-व्यंग्य के साथ सरलता, सहजता, अकृत्रिमता एवं आत्मीयता के सहज ही दर्शन हो जाते हैं। आचार्य शुक्ल के अनुसार - "यह युग बच्चे के समान हँसता-खेलता आया था, जिसमें बच्चों की सी निश्छलता, अक्खड़पन, सरलता और तन्मयता थी।" भट्ट जी ने समसामयिक विषयों पर भी निबन्ध लिखे। उनके निबन्धों में 'आत्मनिर्भरता', 'आँसू', 'स्त्रियाँ', 'शंकराचार्य', 'गुरुनानक' आदि प्रमुख हैं। प्रतापनारायण मिश्र ने भी हास्य-व्यंग्य से युक्त भाव प्रधान एवं गंभीर निबन्धों की रचना की। उनके निबन्धों में 'मनोयोग', 'नारी', 'घूरे की लता' आदि प्रमुख हैं।

2. द्विवेदी युग - भारतेन्दु युग साहित्य की श्रीवृद्धि एवं भाषा के परिमार्जन का युग था, द्विवेदी युग ने उस एकत्रित सामग्री को सुव्यवस्थित रूप देने का प्रयत्न किया। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का युग सन् 1900 ई. से 1920 तक माना जाता है। इस युग के केन्द्र बिन्दु में रहकर द्विवेदी जी ने अपनी सतत साधना द्वारा साहित्यश्री के जिस भंडार को महिमामंडित किया उसे भुलाया नहीं जा सकता। द्विवेदी जी ने भाषा को सुव्यवस्थित रूप प्रदान कर विभिन्न साहित्यकारों को शुद्ध एवं परिनिष्ठित भाषा-लेखन की प्रेरणा दी। उनकी प्रेरणा से शुद्ध, सुव्यवस्थित एवं व्याकरण-बद्ध भाषा लिखी जाने लगी। फलस्वरूप अब निबन्धों में विचारों की कसावट एवं गम्भीरता आने लगी। वे

मात्र ज्ञान और मनोरंजन के साधन न रहकर विस्तृत एवं गंभीर ज्ञान का विवेचन करने लगे। फलस्वरूप आलोचना, इतिहास, पुरातत्त्व आदि पर खोजपूर्ण निबन्ध लिखे जाने लगे। अंग्रेजी, बंगला और मराठी निबन्धों के अनुवाद किये जाने लगे।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के निबन्धों में 'साहित्य की महत्ता', 'कवि और कविता', 'प्रतिभा', 'नाटक', 'उपन्यास' आदि प्रमुख हैं। इस काल के अन्य निबन्धकारों में माधव प्रसाद मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, गोपालराम गहमरी, ब्रजनन्दन सहाय, पद्म सिंह शर्मा, अध्यापक पूर्ण सिंह आदि प्रसिद्ध हैं। डॉ. श्यामसुन्दर दास एवं बाबू गुलाब राय इस युग के श्रेष्ठ निबन्धकार हुए जो द्विवेदी जी से प्रभावित न होकर स्वतंत्र विचारक थे। द्विवेदी युगीन निबन्धकारों में श्री माधव प्रसाद मिश्र, पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी एवं अध्यापक पूर्ण सिंह सर्वश्रेष्ठ हैं। माधव प्रसाद मिश्र ने 'धृति', 'क्षमा' आदि विचारात्मक तथा गुलेरी जी ने व्यंग्य विनोद से पूर्ण 'कछुआ धर्म', 'पुरानी पगड़ी' आदि निबन्धों की रचना की। अध्यापक पूर्ण सिंह के निबन्धों में 'सच्ची वीरता', 'आचरण की सभ्यता', 'मजदूरी और प्रेम' में मानवतावादी दृष्टिकोण के दर्शन होते हैं। बाबू श्यामसुन्दर दास की रचनाओं में पांडित्यपूर्ण ओज एवं ज्ञान का गाम्भीर्य है। उनके सभी निबन्ध उच्चकोटि के हैं। बाबू गुलाब राय के निबन्धों में पैनापन एवं सरसता है।

इस प्रकार इस युग में निबन्ध शैली पूर्ण विकास प्राप्त कर चुकी थी। इस युग के अंत में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसा सशक्त निबन्धकार निबन्ध साहित्य को प्राप्त हुआ, जिसने इस विधा को श्रेष्ठता एवं सर्वोच्च आसन पर प्रतिष्ठित किया।

(3) शुक्ल युग - आचार्य शुक्ल के निबन्ध 'चिंतामणि' में संगृहीत हैं। उनके निबन्धों में उच्चकोटि की दार्शनिकता, मनोवैज्ञानिकता और आलोचकीय प्रतिभा के दर्शन होते हैं। शुक्ल जी ने प्रायः तीन प्रकार के निबन्धों की रचना की है - (1) भावों और मनोवृत्तियों पर, (2) शास्त्रीय विषयों पर, (3) व्यावहारिक समीक्षा सम्बन्धी विषयों पर। 'लोभ', 'उत्साह', 'करुणा', 'घृणा' आदि भावों एवं मनोवृत्तियों पर आधारित निबन्ध हैं, 'कविता क्या है', 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद' तथा 'रसात्मक बोध के विविध रूप' उनके शास्त्रीय विषयों पर लिखे निबन्ध हैं तथा 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', 'तुलसीदास का भक्ति मार्ग' आदि इनके व्यावहारिक समीक्षा सम्बन्धी निबन्ध हैं। इन निबन्धों में स्पष्टता, मौलिकता, रोचकता, हृदय का सामंजस्य और भाषा शैली का औदात्य प्रकट हुआ है। शुक्ल

जी का हृदय कवि का, मस्तिष्क आलोचक का और जीवन अध्यापक का था, इसलिए गंभीर होते हुए भी उनके निबन्धों की भाषा सर्वग्राही बन गयी है।

शुक्ल युग के निबन्धकारों में डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, गुलाब राय, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, जयशंकर प्रसाद, नंददुलारे वाजपेयी, शिवपूजन सहाय, वियोगी हरि, वासुदेवशरण अग्रवाल आदि प्रमुख हैं। द्विवेदी जी की निबन्ध शैली भावना प्रधान है। यद्यपि इन्होंने शुक्ल युग से लिखना प्रारम्भ किया था तथापि शुक्लोत्तर युग में भी ये निरन्तर लिखते रहे। इनके निबन्धों में संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य है फिर भी सरसता सर्वत्र विद्यमान है। इस प्रकार सन् 1920 से लेकर 1940 ई. के बीच, जिसे शुक्ल युग के नाम से जाना जाता है, निबन्धों के विविध प्रकार प्रकाश में आये। अतः इस युग में निबन्ध विधा का काफी विकास हुआ।

(4) शुक्लोत्तर युग - इस युग में शुक्ल युग के भी बहुत से निबन्धकार आ जाते हैं, जो शुक्ल जी के बाद भी निरन्तर रचना शैली में प्रवृत्त रहे। इस युग के निबन्धकारों में डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेन्द्र, डॉ. रामविलास शर्मा, जैनेन्द्र कुमार, प्रकाश चन्द्र गुप्त, शिवदान सिंह चौहान, डॉ. नामवर सिंह, अज्ञेय, रामधारी सिंह दिनकर, डॉ. धर्मवीर भारती, डॉ. देवराज उपाध्याय, विद्या निवास मिश्र, कुबेर नाथ राय, आदि प्रमुख हैं।

पांडित्य, ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक चेतना, सरसता और वैयक्तिकता के कारण डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंध इस युग की सर्वश्रेष्ठ धरोहर हैं। 'अशोक के फूल', 'आम फिर बौरा गये', 'नाखून क्यों बढ़ते हैं' आदि सामान्य विषयों पर लिखते हुए भी उन्होंने अपनी विद्वता एवं पांडित्यपूर्ण गंभीर चिंतन का परिचय दिया है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और डॉ. नगेन्द्र मूलतः समीक्षक हैं और इन लोगों ने समीक्षात्मक निबन्धों की ही रचना की है। डॉ. रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, यशपाल, डॉ. नामवर सिंह, प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि साम्यवादी विचारधारा के निबन्धकार हैं। जैनेन्द्र कुमार, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय और महादेवी वर्मा ने हिन्दी निबन्ध परम्परा को और अधिक विकसित किया। जैनेन्द्र जी गांधीवादी चिंतक हैं। उनकी शैली गंभीर एवं चिंतन प्रधान है। अज्ञेय तथा इलाचन्द्र जोशी के निबन्धों में मनोवैज्ञानिकता है ही उनमें चिंतन की गहराई भी पायी जाती है। महादेवी वर्मा के निबन्ध नारी समस्या तथा भारतीय संस्कृति पर आधारित हैं।

बनारसीदास चतुर्वेदी के निबन्धों में विचारात्मकता एवं कौशल्यायन जी के निबन्धों में जीवनानुभूतियों के मार्मिक चित्रण हैं। रामवृक्ष बेनीपुरी के निबन्ध संस्मरणात्मक हैं। पुराण, इतिहास, धर्म एवं दर्शन को आधार बनाकर लिखने वालों में डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल प्रमुख हैं। प्रभाकर माचवे हास्य-व्यंग्य की छटा को उजागर करने वाले प्रमुख निबन्धकार हैं। श्रीलाल शुक्ल तथा हरिशंकर परसाई ने व्यंग्य प्रधान निबन्धों की रचना की है। कुबेर नाथ राय आधुनिक युग के श्रेष्ठ एवं हजारी प्रसाद द्विवेदी के खेमे के निबन्धकार हैं। इन्होंने हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा प्रवर्तित ललित निबधों की परंपरा को आगे बढ़ाया है। ललित निबन्धों की परम्परा को आगे बढ़ाने वालों में विद्यानिवास मिश्र, विवेकी राय, ठाकुर प्रसाद सिंह तथा धर्मवीर भारती प्रमुख हैं।

इस प्रकार आधुनिक युग में निबन्ध रचना में निरन्तर प्रौढ़ता आ रही है। हिन्दी साहित्यरथियों ने अपने अथक परिश्रम द्वारा निबन्ध-क्षेत्र को गौरवान्वित करते हुए उसे जिस अनुकरणीय एवं आरदणीय आसन पर प्रतिष्ठित किया है वह गौरव का विषय है।

प्रश्न 53. हिन्दी आलोचना साहित्य के उद्भव एवं विकास की प्रक्रिया को संक्षेप में लिखें।

उत्तर - आलोचना साहित्य को सुव्यवस्थित, सुसंस्कृत और सामाजिक रूप प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। वह साहित्य के मूल तत्त्वों की खोज और उसका निर्धारण कर साहित्यकारों को दिशा-दृष्टि प्रदान कर शुभ और श्रेष्ठ रचना की प्रेरणा देती है। यद्यपि हिन्दी साहित्य में हमें आलोचना का उदय भक्तिकाल के मध्याह्न और विकास शृंगार काल में होता हुआ दिखाई पड़ता है, परन्तु हिन्दी गद्य का विकास न होने के कारण उस समय की आलोचना प्रणाली विकास नहीं पा सकी। हिन्दी आलोचना प्रणाली का पूर्ण विकास भारतेन्दु के समय से होता है।

अतः हिन्दी आलोचना के परम्परागत अध्ययन हेतु उसे निम्नलिखित शीर्षकों में बाँटा जा सकता है - (1) भारतेन्दु कालीन आलोचना (2) द्विवेदी युगीन आलोचना (3) शुक्ल युगीन आलोचना (4) शुक्लोत्तर आलोचना की विभिन्न प्रणालियाँ।

1. भारतेन्दु युगीन आलोचना - हिन्दी गद्य की अन्य विधाओं के समान आधुनिक आलोचना साहित्य के जन्मदाता भारतेन्दु जी ही हैं। उन्होंने 'नाटक' नामक एक विस्तृत निबन्ध लिखकर अंग्रेजी एवं बंगला नाटकों का समन्वय स्थापित करते हुए नाट्य सिद्धान्त की नयी मान्यताएँ स्थापित कीं। इसी काल

में चौधरी बदरी नारायण प्रेमघन ने अपनी पत्रिका 'आनन्द कादम्बिनी' में और पं. बालकृष्ण भट्ट ने अपने मासिक पत्र 'हिन्दी प्रदीप' में लाला श्रीनिवास दास के नाटक 'संयोगिता स्वयंवर' की समीक्षा प्रस्तुत की। भट्ट जी द्वारा की गयी 'संयोगिता स्वयंवर' की समीक्षा का एक अंश इस प्रकार है - "लालाजी, यदि बुरा न मानिए तो एक बात आपसे धीरे से पूछें, वह यह कि आप ऐतिहासिक नाटक किसको कहेंगे, क्या केवल किसी पुराने समय के ऐतिहासिक पुरावृत्त की छाया लेकर नाटक लिख डालने से ही वह ऐतिहासिक हो गया।' इस काल के लगभग सभी आलोचक पत्रकार थे इसलिए उनकी आलोचना में पत्रकारिता का सतही रूप ही उभर सका है। फिर भी डॉ. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय के शब्दों में यह कहना ठीक नहीं होगा कि - "हम इन्हें आने वाली समालोचना का प्रारंभिक रूप मान लें तो संभवतः कोई अनुचित नहीं होगा।"

इस युग के अन्य आलोचकों में प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, गंगा प्रसाद अग्निहोत्री एवं अम्बिकादत्त व्यास जी की 'गद्य काव्य मीमांसा' में आलोचना की सशक्त प्रणाली विकसित हुई है जो निश्चय ही भावी आलोचना की प्रणाली को आगे बढ़ाने में आधारशिला का काम करती है।

(2) द्विवेदी युगीन आलोचना - बीसवीं सदी के आरम्भ में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी आलोचना को पर्याप्त विकसित किया। उन्होंने 'विक्रमांक देव चरित चर्चा' एवं 'नैषध चरित्र' तथा 'हिन्दी कालिदास की आलोचना' नामक आलोचनात्मक ग्रंथों की रचना की। परन्तु उनकी नैतिकवादी प्रवृत्ति के कारण श्रृंगारकालीन कवि उनके दृष्टिपथ में नहीं आ सके। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में - "महावीर प्रसाद द्विवेदी साहित्य में रीतिकालीन परम्परा के घोर विरोधी और कट्टर नैतिकता के पक्षपाती थे। उन्होंने सामाजिक आदर्शों को प्रधानता दी और पुराने कवियों के मुकाबले में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा मैथिलीशरण गुप्त की सराहना की।"

वे मूलतः संशोधक एवं सुधारक थे। इसीलिए उन्होंने भाषा सम्बन्धी दोषों में भरपूर सुधार लाने का प्रयत्न किया।

द्विवेदी युग के समकालीन समीक्षकों में मिश्र बन्धु, पद्मसिंह शर्मा, कृष्ण बिहारी मिश्र, लाला भगवानदीन आदि ने रीति साहित्य की विस्तृत समीक्षा प्रारंभ की। मिश्र बन्धुओं ने अपने 'हिन्दी नवरत्न' नामक समालोचनात्मक ग्रंथ में 'देव' को हिन्दी का सबसे बड़ा कवि घोषित किया। अतः उनके द्वारा की गयी इस समालोचना से 'देव बड़े कि बिहारी' विवाद उठ खड़ा हुआ। पं. पद्मसिंह शर्मा ने एक समालोचनात्मक ग्रंथ लिखकर 'बिहारी' को 'देव' से उच्च ठहराया।

उसके उत्तर में पं. कृष्ण बिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' नामक तुलनात्मक समीक्षा लिखकर दोनों कवियों को उचित स्थान दिया। इसके पश्चात् लाला भगवान दीन ने 'बिहारी और देव' नामक समीक्षात्मक पुस्तक निकाली। शुक्ल जी ने इस आलोचना को पुरानी परिपाटी की सुन्दर आलोचना माना है।

आलोचना विधा में परिपक्वता लाने में 'सरस्वती', 'इन्दु', 'समालोचना' तथा 'नागरी प्रचारिणी' पत्रिका का भी उल्लेखनीय अवदान रहा है।

इस युग के उल्लेखनीय समीक्षकों में डॉ. श्यामसुन्दर दास सर्वोपरि हैं। उन्होंने सन् 1923 ई. में 'साहित्यालोचन' नामक सैद्धान्तिक समीक्षात्मक ग्रन्थ की रचना कर आलोचना के नवीन मानदण्ड को सामने लाया। इस युग के अन्य समीक्षकों में पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, गंगा प्रसाद अग्निहोत्री, राधाकृष्ण दास, अम्बिकादास व्यास आदि प्रमुख हैं।

इस प्रकार द्विवेदी युग में सृजनात्मक साहित्य की ही रचना होती रही समीक्षा क्षेत्र में उत्कृष्टता न आ सकी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार - "द्वितीय उत्थान के भीतर समालोचना की यद्यपि बहुत कुछ उन्नति हुई पर उसका स्वरूप प्रायः रूढ़िगत ही रहा।"

3. शुक्लयुगीन आलोचना - आलोचना के क्षेत्र में शुक्ल जी का आगमन एक क्रांतिकारी घटना है। उनमें एक श्रेष्ठ आलोचक के सभी गुण मौजूद थे। अपने इन्हीं गुणों के कारण उन्होंने पौर्वात्य तथा पाश्चात्य समीक्षा का सम्यक् सम्मिश्रण करके एक व्यावहारिक तथा वैज्ञानिक समीक्षा को जन्म दिया।

'हिन्दी साहित्य का इतिहास' उनकी श्रेष्ठ कृति है। उन्होंने कविवर सूर, तुलसी तथा जायसी पर उच्च कोटि की समालोचना प्रस्तुत की है। उनके समीक्षात्मक निबन्ध 'चिन्तामणि' नामक पुस्तक में दो भागों में संगृहीत हैं। प्रथम भाग में मनोविकारों से सम्बन्धित निबन्ध हैं, तथा द्वितीय भाग में उनके समीक्षात्मक निबंध प्रस्तुत हैं। 'रसमीमांसा' शुक्ल जी की सैद्धान्तिक समीक्षा की उत्कृष्ट रचना है। शुक्ल जी पर अंग्रेजी आलोचक आई0ए0रिचर्ड्स का प्रभाव माना जाता है। शुक्ल जी की सरस, वैज्ञानिक एवं निष्पक्ष आलोचना पद्धति की परवर्ती आलोचकों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में - "हिन्दी समीक्षा को शास्त्रीय और वैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित करने में शुक्ल जी ने युग प्रवर्तक का काम किया, वह हिन्दी के इतिहास में सदैव स्मरणीय रहेगा।"

डॉ. नगेन्द्र के शब्दों में - "आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विषय में कदाचित

यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि उनके समान मेधावी आलोचक किसी भी भारतीय भाषा में नहीं है।"

इस युग में भी अनेक आलोचक हुए जो शुक्ल जी के पश्चात् भी रचना कार्य में लगे रहे।

4. शुक्लोत्तर आलोचना की विभिन्न प्रणालियाँ - आचार्य शुक्ल के पश्चात् हिन्दी आलोचना की विभिन्न प्रणालियाँ विकसित हुईं, जो इस प्रकार हैं -

(क) सैद्धान्तिक समीक्षा - इस युग में 'काव्य के रूप' (बाबू गुलाब राय), 'काव्य दर्पण' (रामदरश मिश्र), 'समीक्षा शास्त्र' (दशरथ ओझा), 'आधुनिक समीक्षा' (डॉ. देवराज), 'रस सिद्धान्त' (डॉ. नगेन्द्र) आदि विभिन्न सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बन्धी ग्रंथों की रचना हुई।

(ख) सौष्ठववादी समीक्षा - सौष्ठववादी या सौन्दर्यवादी समीक्षा के आरंभिक रूप हमें प्रसाद, निराला, वर्मा एवं पंत जैसे छायावादी कवियों के काव्य संग्रहों की भूमिकाओं में देखने को मिलते हैं। इन कवियों के अतिरिक्त डॉ. नगेन्द्र, नन्ददुलारे वाजपेयी, शान्तिप्रिय द्विवेदी एवं गंगा प्रसाद पाण्डेय सौष्ठववादी आलोचना के प्रभावशाली कीर्ति स्तंभ रहे हैं।

(ग) ऐतिहासिक समीक्षा - ऐतिहासिक रीति के समीक्षकों में शुक्ल जी के बाद 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (डॉ. रामकुमार वर्मा), 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी), 'हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास' (नागरी प्रचारिणी सभा) आदि प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त साहित्य की विभिन्न विधाओं एवं कालों पर भी विभिन्न समीक्षात्मक ग्रंथों की रचना हुई है।

(घ) प्रगतिवादी समीक्षा - समीक्षा की प्रगतिवादी प्रणाली छायावाद के ह्रास के बाद प्रचलित हुई। प्रगतिवादी समीक्षा प्रणाली मार्क्सवाद के मूलभूत सिद्धान्तों से प्रभावित है। इस प्रकार के समीक्षकों में डॉ. राम विलास शर्मा (लोक जीवन और साहित्य), शिवदान सिंह चौहान (आलोचना के मान), डॉ. नामवर सिंह (इतिहास और आलोचना), प्रकाश चन्द्र गुप्त (साहित्यधारा, हिन्दी साहित्य में जनवादी परम्परा) तथा रांगेय राघव एवं चन्द्रबली सिंह प्रमुख हैं।

(ङ) अनुसंधानात्मक समीक्षा - अनुसंधानात्मक प्रबंध पीएच.डी. तथा डी. लिट् उपाधियों के लिये लिखे जाते हैं। जब से अध्ययन के क्षेत्र में पीएच.डी. की डिग्री का महत्त्व बढ़ा है तब से शोधकार्य करने वालों की संख्या में काफी वृद्धि हुई है।

(च) तुलनात्मक समीक्षा - हिन्दी साहित्यकारों के साथ अहिन्दी भाषी साहित्यकारों की विभिन्न कृतियों के तुलनात्मक अध्ययन की समीक्षात्मक प्रणाली काफी विकसित हुई है। ये ग्रंथ हैं - 'हिन्दी और मलयालम के भक्त कवियों के तुलनात्मक अध्ययन' आदि।

इस प्रकार प्रभाववादी, मनोविश्लेषणवादी एवं व्याख्यात्मक समीक्षा की पद्धतियों ने हिन्दी समालोचना विधा को समृद्ध करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

शुक्लोत्तर समीक्षा पद्धतियों में 'नयी समीक्षा' प्रणाली विकसित हुई है। इस प्रकार के समीक्षकों में अज्ञेय, लक्ष्मीकान्त वर्मा, डॉ. जगदीश गुप्त आदि प्रमुख हैं। नवोदित आलोचक दंगल झाल्टे ने 'उपन्यास समीक्षा के नये प्रतिमान' लिखकर उपन्यास समीक्षा की पुरानी प्रणाली को त्याग नये मानदण्ड की प्रतिष्ठा की है।

इस प्रकार कुछ ही दिनों में हिन्दी आलोचना की अभूतपूर्व उन्नति हुई है।

प्रश्न 54. हिन्दी समस्या नाटक के उद्भव एवं विकास को स्पष्ट करें।

अथवा

प्रश्न 55. हिन्दी समस्या नाटक का स्वरूप निर्धारित करते हुए लक्ष्मीनारायण मिश्र का स्थान निर्धारित कीजिए।

उत्तर - समस्या नाटक, नाटक की एक महत्त्वपूर्ण आधुनिक विधा है। आलोचकों के अनुसार हिन्दी में समस्या नाटक का प्रादुर्भाव अंग्रेजी के 'प्रॉबलेम प्लेज' के आधार पर हुआ। अतः यह पश्चिम' से आयातित कलमी पौधा है। यूरोप में उंन्नीसवीं शताब्दी में विभिन्न सामाजिक समस्याओं का जन्म हुआ। पुरानी रूढ़िगत मान्यताओं के स्थान पर नूतन मान्यताएँ स्थापित होने लगी थीं। अतः वहाँ के समाज में एक अन्तर्द्वन्द्व फैला जिसके परिणामस्वरूप वहाँ की धरती ने इब्सन जैसे प्रसिद्ध समस्या नाटककारों को जन्म दिया।

भारत में प्रथम विश्वयुद्ध के बाद भी अनेक सामाजिक समस्याएँ करवटें बदलने लगी थीं। समाज में एक ओर जहाँ पुरानी मान्यताओं के स्थान पर बल दिया जा रहा था वहीं उनके विरोध में भी अनेक सामाजिक संस्थाएँ कायम होने लगी थीं। सामाजिक कुप्रथाओं के विरोध में तो आर्य समाज, ब्रह्म समाज आदि की नींव बहुत पहले ही पड़ चुकी थी। इन संस्थाओं ने सामाजिक रूढ़ियों और धार्मिक ढोंगों पर कुठाराघात किया। बाल विवाह, विधवा विवाह, नारी-शिक्षा, छुआछूत आदि समस्याएँ समाज के सामने चुनौती-रूप में खड़ी थीं। महात्मा

गांधी के असहयोग एवं अछूतोद्धार आन्दोलन ने जन चेतना को झकझोर कर रख दिया था। भारत का जन-जीवन सन् 1920 के बाद अधिक तार्किक एवं बौद्धिक हो गया था। अतः इस युग में नवीन साहित्यिक आन्दोलन उठ खड़े हुए। यहाँ की विभिन्न समस्याओं ने समस्या नाटककारों को जन्म दिया। जयशंकर प्रसाद, लक्ष्मीनारायण मिश्र तथा उपेन्द्र नाथ अश्क जैसे समर्थ समस्या नाटककार हुए।

यद्यपि पश्चिमी समस्या नाटकों के अनुकरण पर ही हिन्दी समस्या नाटकों का जन्म हुआ, परन्तु दोनों के समस्या-चित्रण में मौलिक अन्तर है। भारतीयों का ध्यान सदा आदर्श की प्रतिष्ठा पर रहा है। अतः हमारे यहाँ की मूल समस्या आदर्श की स्थापना ही रही है। आसुरी वृत्तियों से ही हम सदा संघर्ष करते रहे हैं। यदि इस समस्या पर विचार करते हुए भारतीय नाटकों का अध्ययन किया जाय तो संस्कृत में लिखित 'प्रबन्ध चन्द्रोदय' सर्वप्रथम समस्या नाटक ठहरता है। परन्तु आज की समस्या भौतिक और ऐहिक अधिक है। समस्या नाटकों पर अपना विचार व्यक्त करते हुए डॉ. नगेन्द्र ने लिखा है - "ये नाटक प्रतिक्रिया के परिणाम हैं - भावुकता और रोमांस के विरुद्ध। रोमांस और भावुकता पुरानी चीजें हो गयी थीं।"

यद्यपि विद्वानों के अनुसार हिन्दी आधुनिक समस्या नाटक का कलम विलायती है, किन्तु इसका खाद और पानी पूर्णतः भारतीय है। सन् 1920 के पश्चात् हिन्दी भाषी क्षेत्र में समस्या नाटकों के लिए उचित वातावरण तैयार हो गया था। अछूतोद्धार, राजनीतिक विचार परिवर्तन, नारी अधिकारों की चर्चा, अंतर्जातीय विवाह, विधवा विवाह, अनमेल विवाह आदि की चर्चा जोरों पर थी। अतः इस समय हिन्दी समस्या नाटकों की पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी। इसीलिए कुछ आलोचकों का विचार है कि पश्चिम के इब्सन और बर्नार्ड शॉ यदि नहीं भी होते तो भी हिन्दी में समस्या नाटक अवश्य लिखे जाते। प्रमुख समस्या नाटककार श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ने लिखा है - "समस्या नाटकों की रचना विवशता की देन है।"

हिन्दी में समस्या नाटकों के जन्मदाता श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र माने जाते हैं। संन्यासी (1930), राक्षस का मंदिर (1931), मुक्ति का रहस्य (1932), राजयोग (1933), सिन्दूर की होली (1933) इत्यादि मिश्र जी के प्रसिद्ध समस्या नाटक हैं। मिश्र जी के नाटकों का मूल स्वर वैयक्तिक है फिर भी उनकी भावभूमि सामाजिक परिवेश को लेकर चलती है। वास्तव में मिश्र जी संकीर्ण वैयक्तिक समस्याओं का चित्रण नहीं करते हैं बल्कि एक प्रगतिशील नाटककार

के समान करते हुए चलते हैं। मिश्र जी के नाटकों में भारतीय परिवेश में सत्य का उद्‌घाटन किया गया है। सत्य एवं यथार्थ के उद्‌घाटन में यौन-समस्या का चित्र बहुत ही स्वाभाविकता के साथ इनके नाटकों में उभर पाया है। अपने एक नाटक में एक नायिका किरणमयी से वे कहलवाते हैं - "तुम दिन रात में कोई दो घन्टा इसके लिये नियत कर लो। मैं अपना शरीर लेकर तुम्हारी सेवा में हाजिर हो जाया करूँगी।"

एक दूसरे नाटक में मनोरमा नामक नायिका कहती है - "मैं तुम्हें अपना दुलहा तो नहीं बना सकती लेकिन प्रेमी बना लूँगी।"

'मुक्ति का रहस्य' नाटक में मिश्र जी अपने एक पात्र शर्मा जी के मुख से सफेदपोश नेताओं की अनैतिकता का पर्दाफाश इन शब्दों में करवाते हैं 'धन, कीर्ति, यश, दुनिया की इन सब चीजों पर समाज के मुखिया कहते बहुत हैं.. करते कुछ नहीं। या सड़क पर जिसे पाप समझते हैं, कमरे में उसी की उपासना करते हैं।"

समस्या नाटककारों की श्रेणी में जयशंकर प्रसाद का भी अद्वितीय स्थान है। उन्होंने अपने नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' में ऐतिहासिकता के परिप्रेक्ष्य में नारी समस्या पर प्रकाश डाला है। रामगुप्त ध्रुवस्वामिनी को उपहार की वस्तु बतलाते हुए उसे दूसरे के हवाले करना चाहता है, इस पर ध्रुवस्वामिनी उसे कायर कहते हुए फटकारती है - "पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी एक पशु सम्पत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता। निर्लज्ज, मद्यप, क्लीव मैं अपनी रक्षा स्वयं करूँगी।"

मिश्र जी एवं प्रसाद जी के उपरान्त समस्या नाटककारों में उपेन्द्र नाथ अश्क का प्रमुख स्थान है। 'स्वर्ग की झलक, छठा बेटा, इनके दो प्रमुख समस्या नाटक हैं। भगवतीचरण वर्मा ने 'और रुपया तुम्हें खा गया' नामक समस्या नाटक की रचना की। पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र ने 'डिक्टेटर, गंगा का बेटा, आवारा' आदि समस्या नाटकों की रचना की है। पृथ्वी नाथ शर्मा ने तीन समस्या नाटकों की रचना की है - द्विविधा, अपराधी और शराबी। उदयशंकर भट्ट ने कमला, राधा विद्रोहिणी नामक समस्या नाटकों की रचना की। हरिकृष्ण प्रेमी के चार समस्या नाटक प्रतिशोध, छाया, बंधन और मंदिर मिलते हैं। सेठ गोविन्ददास ने प्रकाश, सेवापथ, धीरे-धीरे आदि तीन प्रकार के समस्या नाटकों की रचना की। वृन्दावन लाल वर्मा ने 'खिलौने की खोज में' 'पीले हाथ', 'बाँस की फाँस' इत्यादि समस्या नाटकों की रचना की।

विभिन्न समस्या नाटकों के अध्ययन से उसकी निम्नलिखित विशेषताएँ

प्रकाश में आयी हैं - समस्या नाटक की पहली प्रमुख विशेषता है - समस्या की प्रधानता। इसमें मुख्य समस्या के साथ अन्य समस्याएँ चक्कर काटती हुई नजर आती हैं। मिश्र जी के शब्दों में - "समस्या उठाना ही समस्या नाटककार का प्रमुख कार्य है, उसका समाधान प्रस्तुत करना नहीं।"

समस्या नाटकों की दूसरी विशेषता है - यथार्थ का निरूपण करना। समस्या नाटककार यथार्थ को ही आदर्श मान उसका चित्रण करता है।

इसकी तीसरी विशेषता है - बौद्धिकता। समस्या नाटकों में बौद्धिकता की अतिशयता के कारण हृदय-पक्ष शून्य दिखाई पड़ता है।

समस्या नाटकों की चौथी विशेषता है - अंतर्मुखी प्रवृत्ति। इसी विशेषता के कारण समस्या नाटककार मानसिक संघर्षों एवं अंतर्द्वन्द्वों का चित्रण अधिक करता है।

समस्या नाटकों की पाँचवीं विशेषता है - व्यंग्य। व्यंग्य के माध्यम से समस्या नाटककार खोखले आदर्शों एवं रूढ़ियों पर प्रहार करता है।

आजकल समाज में उत्पन्न होती हुई विभिन्न समस्याओं के कारण समस्या नाटकों का भविष्य उज्ज्वल है। यही कारण है कि आज का नाटककार जितना ही अधिक यथार्थवादी है उसके नाटकों में उतनी ही बौद्धिकता एवं समस्याओं के चित्रण मिलते हैं। अतः समस्या नाटकों की उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है।

प्रश्न 56. हिन्दी आंचलिक उपन्यास के उद्‌भव एवं विकास की प्रक्रिया को स्पष्ट करें।

उत्तर - आंचलिक शब्द 'अंचल' से बना है जिसका अर्थ होता हैं क्षेत्र विशेष। अंचल राष्ट्र की एक ऐसी स्वतंत्र इकाई का नाम है जिसका सांस्कृतिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक आदि दृष्टि से अपने आप में एक विशेष महत्त्व होता है। राष्ट्र के अन्य अंचलों से कतिपय समता होते हुए भी इसमें कुछ विशेषताएँ भी होती हैं। अतः देश के किसी खास अंचल विशेष की सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों का यथातथ्य अंकन करना ही आंचलिक उपन्यास का मुख्य उद्देश्य है।

आंचलिक शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग उपन्यासकार फणीश्वरनाथ रेणु ने अपने उपन्यास 'मैला आँचल' में किया। इसके पहले भी कई आंचलिक उपन्यास लिखे जा चुके थे लेकिन उनमें आंचलिक शब्द का प्रयोग न होकर प्रादेशिक शब्द का प्रयोग हुआ है।

हिन्दी में आंचलिक उपन्यास के आरम्भकर्त्ता के रूप में श्री शिवपूजन सहाय का नाम लिया जाता है। सहाय जी ने सर्वप्रथम 'देहाती दुनिया' उपन्यास की रचना कर आंचलिक उपन्यास की नींव डाली। यद्यपि इसके पूर्व भी प्रेमचन्द के उपन्यास 'गोदान' में आंचलिकता की गंध मिलती है परन्तु उसे पूर्णतः आंचलिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता। आंचलिक उपन्यास की कुछ खास विशेषताएँ हैं, जिनका होना आंचलिक उपन्यास के लिये अत्यन्त आवश्यक है। वे विशेषताएँ इस प्रकार हैं -

1. इसमें कथानक का चयन एक अंचल विशेष की सभी परिस्थितियों को लेकर होता है।

2. आंचलिक या उस अंचल विशेष के सांस्कृतिक चित्रण का होना अति आवश्यक है।

3. इसमें आंचलिक परिवेश का वर्णन होता है।

4. पात्रों के चरित्र-विकास में आंचलिकता की झलक होती है।

5. इसमें अंचल विशेष के पिछड़ेपन को दूर करने के लिए जन-जागरण का संकेत रहता है।

हिन्दी के आंचलिक उपन्यास ग्रामीण और शहरी दोनों के वातावरण को आधार बनाकर लिखे गये हैं। कुछ विद्वानों ने हिन्दी के आंचलिक उपन्यास को पश्चिम के 'रीजनल नावेल' का अनुकरण माना है। गद्य की अन्य विधाओं की तरह उपन्यास में भी पश्चिम का प्रभाव अवश्य है। परन्तु हमारे यहाँ के साहित्यकारों की मुख्य विशेषता यह रही है कि उनका अनुकरण चाहे जितना भी रहा हो उसके कथानक एवं टेकनिक में भारतीय आत्मा की पुकार सदैव सुनाई पड़ती है। हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों के साथ भी यही बात है।

हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों का विकासात्मक विवरण इस प्रकार है -

श्री शिवपूजन सहाय द्वारा रचित 'देहाती दुनिया' हिन्दी का सर्वप्रथम आंचलिक उपन्यास है। इसका कथानक शाहाबाद जिले के भोजपुर क्षेत्र (अब भोजपुर जिला) से संबंधित है। यद्यपि इस उपन्यास की रचना सन् 1921 के आस-पास हुई परन्तु इसका प्रकाशन कुछ वर्ष के बाद हुआ। इसकी शैली आत्म कथात्मक है। इस आंचलिक उपन्यास में भोजपुर क्षेत्र में प्रचलित लोकगीतों, मुहावरों, भाषा की विकृति, मेले, तमाशे, पंडे-पुजारी, रैयत-ज़मींदार, कायस्थ-दीवान आदि सबका जीवंत चित्रण हुआ है। बाल मनोवृत्ति की सरस झाँकी इस उपन्यास की इन पंक्तियों में देखी जा सकती है-

जहाँ लड़कों का संग तहाँ बाजे मृदंग।
जहाँ बुढ़वा के संग तहाँ खरचे का तंग।।

भूत-प्रेत, टोना-टोटका, मंत्र-तंत्र, लोक-विश्वास आदि का चित्रण इस उपन्यास में जीवन्त हो उठा है।

श्री शिवपूजन सहाय के बाद दूसरे प्रमुख आंचलिक उपन्यासकार हैं - नागार्जुन। नागार्जुन के आंचलिक उपन्यासों में बाबा बटेसरनाथ, बलचनमा, वरुण के बेटे, रतिनाथ की चाची, आदि प्रसिद्ध हैं। 'बाबा बटेसरनाथ' उपन्यास का कथानक बिहार के दरभंगा जिले की बस्ती रूपउली की आंचलिक विशेषता पर आधारित है। 'बलचनमा' में दरभंगा जिले की संस्कृति का विशद चित्रण है। 'वरुण के बेटे' उपन्यास मछुआरों की जीवन-व्यवस्था पर आधारित है। 'रतिनाथ की चाची' में एक विधवा के माध्यम से नारी के दुर्भाग्य की कहानी है।

आंचलिक उपन्यासों में तीसरा स्थान रांगेय राघव का है। इन्होंने 'काका' और 'कब तक पुकारूँ' नामक दो आंचलिक उपन्यासों की रचना की। 'काका' में मथुरा के जन-जीवन का जीवन्त चित्रण है। 'कब तक पुकारूँ' उपन्यास में नटों के जीवन पर आधारित घटनाएँ एवं उनके रहन-सहन का विशद चित्रण है।

आंचलिक उपन्यासकारों में चौथा स्थान एवं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नाम फणीश्वर नाथ रेणु का है। इनके प्रमुख उपन्यासों में 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' है। 'मैला आँचल' इनका सर्वाधिक चर्चित उपन्यास है। इसमें पूर्णियाँ जिले के मेरीगंज के आस-पास का ग्रामीण वातावरण सजीव हो उठा है। रेणु जी ने बिना किसी पूर्वाग्रह के इस उपन्यास में पूर्णियाँ जिले के ग्रामीण वातावरण की अच्छाई-बुराई सबको स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त किया है। उपन्यासकार के ही शब्दों में - "इसमें फूल भी है, शूल भी है, धूल भी है, गुलाल भी, कीचड़ भी है चन्दन भी, सुन्दरता भी है, कुरूपता भी - मैं किसी से भी दामन बचाकर निकल नहीं पाया।"

इनके दूसरे उपन्यास 'परती परिकथा' की घटनास्थली परानपुर अंचल है। परन्तु इसमें 'मैला आँचल' के समान कथा संयोजन नहीं हो पाया है।

रेणु जी के बाद अनेक आंचलिक उपन्यासों की रचना हुई। श्री उदयशंकर भट्ट ने 'सागर लहरें' और 'मनुष्य' नामक आंचलिक उपन्यासों की रचना की। इन उपन्यासों में बम्बई के आसपास के मछुआरों के जीवन पर प्रकाश डाला गया है।

डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के उपन्यास 'बया का घोंसला और साँप' अच्छा आंचलिक उपन्यास है। इस उपन्यास में नारी के दुःख दर्द का सफल चित्रण किया गया है। इसमें बया के रूप में सुहागन एवं साँप के रूप में समाज का चित्रण किया गया है।

देवेन्द्र सत्यार्थी का आंचलिक उपन्यास 'ब्रह्मपुत्र' असमी या असमिया जन-जीवन का सफल चित्र प्रस्तुत करता है। श्री शिव प्रसाद मिश्र ने 'बहती गंगा' में अंग्रेजों के विरुद्ध काशी की वीर जनता के संस्मरणों का चित्रण किया है।

राजेन्द्र अवस्थी के 'जंगल के फूल' में मध्यप्रदेश के बस्तर जिले का चित्रण किया गया है। अवस्थी जी ने इस उपन्यास में यहाँ की घोटुल प्रथा का विस्तार से चित्रण किया है। शैलेश मटियानी के 'चिट्ठीरसैन' नामक उपन्यास में अल्मोड़ा अंचल के उडलगो ग्राम के जन-जीवन का चित्रण किया गया है। 'चिट्ठीरसैन' में रमौती नामक युवती का पति युद्ध में मारा जाता है। वह 'चिट्ठीरसैन' (डाकिया) के प्रलोभन में फँसकर गर्भवती हो जाती है और आत्महत्या करना चाहती है कि उसके पति का बड़ा भाई नाथू हवलदार उसे अपना लेता है।

आंचलिक उपन्यासकारों में रामदरश मिश्र का नाम भी प्रमुख है। इन्होंने अपने आंचलिक उपन्यास 'पानी के प्राचीर' में गोरखपुर जिले के अंतर्गत कल्पित गाँव 'पांडेपुरवा' के जन-जीवन का चित्रण किया है। इस उपन्यास में वहाँ के लोगों के रहन-सहन एवं उनकी संस्कृति का बहुत सफल चित्रण हुआ है।

डॉ. सर्वेश्वरदयाल का 'सोया हुआ जल' भी एक उत्कृष्ट आंचलिक उपन्यास है। श्री कमलेश्वर ने 'एक सड़क सत्तावन गलियाँ' शीर्षक से एक प्रसिद्ध आंचलिक उपन्यास की रचना की है। श्री अमृत राय का 'नागफनी का देश' एक अच्छा आंचलिक उपन्यास है। श्री भैरव प्रसाद गुप्त रचित 'सती मैया का चौरा' आंचलिक उपन्यासों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। अमृतलाल नागर का 'सेठ बाँकेमल' एवं हिमांशु श्रीवास्तव का 'नदी फिर बह चली' प्रमुख आधुनिक आंचलिक उपन्यास हैं।

इस प्रकार हिन्दी आंचलिक उपन्यासों की समृद्ध परम्परा रही है। यद्यपि आंचलिक उपन्यास रचना की गति तेज नहीं है फिर भी जितने उपन्यास सामने आये हैं वे अपनी नवीन शैली एवं लोक संस्कृति के सफल चितेरे के रूप में सदैव स्मरणीय रहेंगे। विभिन्न अंचलों की संस्कृति को अक्षुण्ण रखने में

आंचलिक उपन्यासों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। आंचलिक कथाकार राजेन्द्र अवस्थी के शब्दों में - "आंचलिक कथा साहित्य हमारा सांस्कृतिक उपादान है और यदि विभिन्न अंचलों पर किसी प्रकार का सामूहिक प्रयास किया जाए, तो उससे हमारी बिखरी संस्कृति का एकीकरण हो सकता है और उसमें उपलब्ध समान तत्त्वों, समान विचारों और समान प्रश्नों को लिया जा सकता है, जो किसी भी स्वतन्त्र देश की बहुत बड़ी अमानत हो सकते हैं।"

प्रश्न 57. आधुनिक काल के साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।

अथवा

प्रश्न 58. हिन्दी साहित्य का दूसरा स्वर्णयुग किसे कहा गया है ? उसकी सामान्य विशेषताओं का विवेचन करें।

उत्तर - आधुनिक काल का प्रारम्भ संवत् 1900 से माना जाता है। बहुत से विद्वानों ने इसे गद्यकाल भी कहा है। इस युग में कविता की अपेक्षा गद्य साहित्य अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बना एवं इसमें अत्यधिक साहित्य रचे गये। गद्य की नयी-नयी विधाएँ प्रकाश में आयीं। इस काल के साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि इसमें जन-जन के कण्ठ की पुकार निनादित हुई। इस काल की सभी साहित्यिक विधाएँ जन-चेतना से जुड़ी हुई जनता के सुख दुःख की सहभागिनी रही हैं। जन-चेतना एवं जागरूकता का जितना सशक्त स्वर आधुनिक युग के साहित्य में मुखरित हुआ है उतना पहले कभी नहीं हुआ था। यही कारण है कि भक्तिकाल के बाद हिन्दी साहित्य का दूसरा स्वर्णयुग आधुनिक युग को ही माना गया है।

आधुनिक काल के विस्तृत साहित्यिक फलक को देखते हुए इसकी निम्नलिखित विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं -

1. गद्य का विकास - गद्य का विकास आधुनिक काल की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। आधुनिक काल के पूर्व साहित्य में पद्य का ही प्रयोग होता रहा। अतः पद्य के माध्यम से साहित्य की अन्य विधाओं जैसे, नाटक, निबन्ध, कहानी, आलोचना, उपन्यास आदि का विकास कल्पनातीत था। आधुनिक युग के प्रारम्भिक चरण में खड़ी बोली गद्य का विकास होने लगा था और अब परिनिष्ठित गद्य साहित्य अपना एक सौ वर्ष पूरा कर साहित्य के क्षेत्र में स्थायी प्रभुत्व जमा चुका है।

हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य विद्वान अंग्रेजी एवं बंगला साहित्य के सम्पर्क में

भी आए जिससे गद्य विधा में निरन्तर प्रौढ़ता आने लगी। आधुनिक काल में जितने अधिक उत्कृष्ट नाटक, निबन्ध, उपन्यास, समालोचनाएँ एवं कहानियाँ लिखी गयी हैं उतने इसके पूर्व कभी नहीं लिखे गये। इस प्रकार गद्य की विकासात्मक प्रक्रिया के परिणामस्वरूप आज उसकी अत्याधुनिक विधायें रिपोर्ताज, रेडियो रूपक, रेडियो नाटक तथा पद्य की भी अनेक विधाओं का निरन्तर विकास हो रहा है। गद्य के इसी विकास के फलस्वरूप आधुनिक युग ने स्वर्णयुग की प्रतिष्ठा प्राप्त की है।

2. खड़ी बोली का प्रादुर्भाव - आधुनिक काल के पूर्व पद्य की भाषा ब्रजभाषा थी। आधुनिक काल की प्रारंभिक अवस्था में भी बहुत से साहित्यकारों की यह धारणा बनी हुई थी कि खड़ी बोली में कविता की रचना हो ही नहीं सकती। स्वयं भारतेन्दु जी भी खड़ी बोली में कविता-सृजन करने के लिए उन्मुख हुए थे परन्तु उन्हें बहुत कठिनाई हुई थी।

द्विवेदी युगीन कवियों ने ब्रजभाषा के वर्चस्व को समाप्त करते हुए खड़ी बोली को कविता-सृजन के लिए आह्वान किया। अयोध्या सिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द आदि विद्वानों ने खड़ी बोली में उत्कृष्ट गद्य एवं पद्य की रचना कर परवर्ती साहित्यकारों के लिए खड़ी बोली का मार्ग सदा सर्वदा के लिए खोल दिया।

3. सामाजिकता की भावना - सामाजिकता की जितनी व्यापक पृष्ठभूमि आधुनिक साहित्य में देखी जाती है उतनी पहले कभी नहीं देखी गयी थी। भक्तिकाल में भक्ति एवं रीतिकाल में श्रृंगारिकता की ही प्रवृत्ति अधिक रही। उस समय के कवियों की दृष्टि से समाज उपेक्षित ही रहा। परन्तु भारतेन्दु जी के उदय से लेकर आज तक के साहित्य में सामाजिक समस्याओं का आकलन बड़ी ही मार्मिकता के साथ अभिव्यक्त किया गया है।

आधुनिक काल का साहित्यकार समाज में व्याप्त दहेज प्रथा, बाल विवाह, विधवा विवाह, स्त्री शिक्षा, निरक्षरता, प्रदूषण, छुआछूत जैसी अनेक समस्याओं से जूझते हुए साहित्य-सृजन में प्रवृत्त है।

4. राष्ट्रीय भावना का विकास - सन् 1850 से लेकर 1947 तक भारतवर्ष की गुलामी के दौरान देश-प्रेम एवं विदेशियों की भर्त्सना सम्बन्धी बहुत से गद्य-पद्य रचे गये। इस युग के साहित्यकारों ने भारतवर्ष के गौरवमय अतीत की याद दिलाते हुए जनसाधारण में राष्ट्रीय भावना का भरपूर प्रचार किया।

प्रसाद जी ने 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' लिखकर हमारे देश की

वैभवशीलता से हमें परिचित कराया तो निराला ने 'जागो फिर एक बार' लिखकर भारतवासियों में अंग्रेजों के खिलाफ लड़ने का जागरण मंत्र फूँका। प्रगतिवादी कवियों ने विदेशियों के साथ-साथ देशी शोषकों एवं राष्ट्रद्रोहियों की बखिया उधेड़ी। प्रयोगवादी एवं स्वातंत्र्योत्तर साहित्य में भी देश प्रेम की काफी दुहाई दी गयी है। इस प्रकार आधुनिक युग का साहित्य राष्ट्रप्रेम से युक्त है। गुप्त जी, दिनकर एवं अज्ञेय की रचनायें तो राष्ट्रप्रेम से ओत-प्रोत ही रही हैं।

5. नारी के प्रति दृष्टिकोण - आधुनिक युग में नारी को भोग विलास की सामग्री नहीं, बल्कि पुरुष की सहभागिनी समझा गया। उसकी खोई हुई अस्मिता उसे पुनः प्रदान की गयी एवं पुरुषों के समान अधिकार दिलाकर उसके गौरव को पुनर्प्रतिष्ठित किया गया। प्रसाद ने घोषणा की -

नारी तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजत नग पग तल में,
पीयूष स्रोत सी बहा करो जीवन के सुन्दर समतल में।

गुप्त जी ने सदियों की उपेक्षित उर्मिला, यशोधरा, शकुंतला आदि नारियों पर स्वतंत्र काव्य की रचना की। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों के माध्यम से 'निर्मला' सरीखी नारियों की समस्याओं को उभारा एवं जैनेन्द्र कुमार ने 'सुनीता' की मजबूरियों को समझा।

6. वर्ण्य-विषयों का विस्तार - आधुनिक युग का वर्ण्य विषय इतना विस्तृत है कि अब किसी भी विषय पर उसे लेखनी चलाना बाकी नहीं है। 'जहाँ न पहुँचे रवि तहाँ पहुँचे कवि' की छोटी-सी उक्ति के अन्दर आधुनिक काल के वर्ण्य विषय समाये हुए हैं।

आधुनिक युग के साहित्यकार ने राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक, समसामयिक, युद्ध आतंक, प्रदूषण समस्या, आरक्षण नीति, शिक्षा समस्या, कृषि, आर्थिक विषमता आदि विभिन्न विषयों को साहित्य सृजन की परिधि में समेटा है।

7. बौद्धिकता एवं वैचारिकता - आधुनिक युग का साहित्यकार चिन्तन एवं बुद्धि की प्रधानता के महत्त्व को स्वीकारते हुए साहित्य-सृजन की ओर उन्मुख है। अपनी बौद्धिक चेतना के परिणामस्वरूप ही आधुनिक युग का साहित्यकार छायावाद, हालावाद, प्रगतिवाद, रहस्यवाद, प्रकृतिवाद, प्रयोगवाद, अस्तित्ववाद जैसी चिन्तन प्रधान साहित्य-प्रवृत्तियों की ओर उन्मुख रहा है।

अज्ञेय जी ने साहित्य के क्षेत्र में प्रयोगवादी एवं अस्तित्ववादी दर्शन लाकर अपनी वैचारिक क्रांति का ही परिचय दिया है।

8. काव्य रूप - काव्य-रूपों की दृष्टि से आधुनिक युग काफी समृद्ध है। प्रबन्ध एवं मुक्तक दोनों काव्य शैलियों के उत्कृष्ट उदाहरण इस युग में देखने को मिलते हैं। प्रियप्रवास, कामायनी, उर्वशी जैसे महाकाव्यों की रचना इसी युग की देन है। आँसू, मधुशाला जैसे उत्कृष्ट गीति काव्यों की रचना आधुनिक युग की ही देन है।

इसके साथ ही रूपक, गीति नाट्य, रिपोर्ताज, संस्मरण, जीवनी साहित्य, आत्मकथा, साक्षात्कार जैसी नव्यतम गद्य एवं पद्य की साहित्यिक विधाओं से आधुनिक युग की साहित्य श्री गौरवान्वित है।

9. भाषा-शैली - आधुनिक साहित्य की भाषा खड़ी बोली है। प्रयोगवादी युग में भाषा को अधिक से अधिक प्रयोगात्मक एवं प्रतीकात्मक बनाने का प्रयास किया गया है। बिम्ब विधान को साहित्यकारों ने प्रमुख स्थान दिया। पुराने बिम्बों, प्रतीकों एवं अलंकारों तथा छन्दों के स्थान पर नये बिम्बों एवं प्रतीकों को अपनाया गया।

इस युग के साहित्यकारों ने बाधा विहीन मुक्त छन्द की आवाज उठायी। छन्दों के कृत्रिम जाल से कविता कामिनी को मुक्त कराया। अब काव्य-सृजन का एकमात्र उद्देश्य भावों की संप्रेषणीयता है, न कि अलंकार एवं छन्दों का प्रदर्शन।

इस प्रकार आधुनिक युग का साहित्य अत्यन्त विस्तृत एवं प्रभावकारी है। इस युग के साहित्य के एक-एक शब्द में जन-चेतना की झंकार सुनाई देती है। संक्षेप में, आधुनिक साहित्य प्रत्येक जन की एक-एक धड़कन की खबर रखता है। यही कारण है कि इस युग को 'स्वर्ण युग' कहा जाता है।

प्रश्न 59. निम्नलिखित कवियों का संक्षिप्त परिचय दीजिए - माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सुभद्राकुमारी चौहान, शिवमंगल सिंह 'सुमन'।

उत्तर - माखनलाल चतुर्वेदी - 'एक भारतीय आत्मा' के नाम से हिन्दी साहित्य में विख्यात श्री माखनलाल चतुर्वेदी का जन्म मध्यप्रदेश के होशंगाबाद जिले के अंतर्गत बावई ग्राम में सन् 1888 ई. में हुआ था। इनके व्यक्तित्व के निर्माण में माधवराव सप्रे और गणेश शंकर विद्यार्थी का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। सन् 1910 के आस-पास इन्होंने लिखना प्रारम्भ किया।

चतुर्वेदी जी मात्र कवि ही नहीं बल्कि एक कुशल एवं कर्मठ सेनानी भी रहे हैं। वाणी में बड़वानल और भावना में भूचाल को लिए चतुर्वेदी जी निरन्तर राष्ट्रप्रेम से युक्त कविताओं का सृजन करते रहे। इन्होंने 'प्रभा', 'कर्मवीर' आदि

पत्रिकाओं का सम्पादन भी किया। इनकी रचना 'हिम-तरंगिनी' पर भारत सरकार से पुरस्कार मिला है तथा साहित्यिक सेवाओं के लिए सागर विश्वविद्यालय ने इन्हें डी. लिट्. की उपाधि प्रदान की।

राष्ट्रीय भावनाओं के जागरूक कलाकार श्री चतुर्वेदी जी ने सन् 1968 ई. में महाप्रयाण कर दिया।

चतुर्वेदी जी की भाषा अत्यन्त सरल एवं बोधगम्य है। इन्होंने केवल काव्य की ही रचना नहीं की बल्कि नाटक, निबन्ध, संस्मरण आदि विभिन्न गद्य विधाओं का भी सृजन किया। इनकी कतिपय मुख्य कृतियाँ निम्नांकित हैं -

काव्य - हिम-किरीटनी, हिम-तरंगिनी, माता, युग चारण, वेणु लो गूँजेधरा, बिजुरी काजल आँज रही।

गद्य - कृष्णार्जुन युद्ध (नाटक), साहित्यदेवता, अमीर इरादे : गरीब इरादे (निबन्ध), समय के पाँव (संस्मरण) आदि।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' - श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का जन्म ग्वालियर के मयाना नामक ग्राम में सन् 1897 ई. में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। सन् 1917 ई. में इन्होंने माधव कॉलेज से हाईस्कूल की परीक्षा पास की। सन् 1920 ई. में बी.ए. में पढ़ते वक्त ये गांधीजी के सत्याग्रह आन्दोलन के आह्वान पर कॉलेज छोड़कर राजनीति में कूद पड़े। सन् 1952 से मृत्यु पर्यन्त वे भारतीय संसद के सदस्य रहे।

नवीन जी पर स्व. गणेश शंकर विद्यार्थी की विचारधाराओं का गहरा प्रभाव पड़ा और उन्हीं की प्रेरणा से साहित्य क्षेत्र में इन्होंने पदार्पण किया। नवीन जी की कविताओं में राष्ट्रप्रेम एवं व्यक्तिगत प्रेम दोनों के उत्कृष्ट रूप मिलते हैं। इन्होंने 'प्रताप' एवं 'प्रभा' पत्रिकाओं का सम्पादन भी किया।

अनवरत साहित्य-साधना एवं राष्ट्र की सेवा करते हुए अंततः 29 अप्रैल सन् 1960 ई. को नवीनजी का पार्थिव शरीर पंचभूत में विलीन हो गया।

रचनाएँ - काव्य-कृतियाँ - कुंकुम, रश्मिरेखा, क्वासि, विनोबा स्तवन, रेखा, अपलक और 'हम विषपायी जनम के।' प्रबन्ध काव्य - उर्मिला।

नवीन जी की भाषा शैली ओज एवं माधुर्य युक्त है। वे कवि होने के साथ-साथ एक कुशल राजनीतिवेत्ता, सफल वक्ता एवं सजग पत्रकार भी थे। छायावाद युग के कवि होते हुए भी उन्होंने भावुकता, मस्ती एवं वीरता के गीत गाये हैं।

सुभद्राकुमारी चौहान - देश प्रेम की दीवानी, वात्सल्य की संवाहिका एवं श्रृंगार रस की स्रोतस्विनी प्रवाहित करने वाली कवयित्री श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान का जन्म इलाहाबाद के निहालपुर मुहल्ले में सन् 1904 ई. में एक क्षत्रिय परिवार में हुआ था। क्रास्थवेट गर्ल्स कॉलेज में शिक्षा प्राप्त करने के बाद सन् 1919 ई. में खंडवा निवासी ठाकुर लक्ष्मण सिंह चौहान के साथ इनका परिणय संस्कार सम्पन्न हुआ।

सुभद्रा जी की कविताओं में राष्ट्रप्रेम की ओजस्विता, श्रृंगार की मधुरता एवं वात्सल्य की नारी सुलभ ममता की त्रिवेणी प्रवाहित हुई है। गांधीजी के असहयोग आन्दोलन से प्रभावित हो वे राजनीति में सक्रिय योगदान करने लगीं। फलस्वरूप कई बार उन्हें गिरफ्तार किया गया एवं जेल की यातना भोगनी पड़ी। उस समय राष्ट्रीय कविताओं का युग था। सुभद्रा जी राष्ट्रीय कविता करने वाली एकमात्र कवयित्री थीं। 'मुकुल' नामक संग्रह पर उन्हें सन् 1931 ई. में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सेकसरिया पुरस्कार भी मिला था।

अथक साहित्य-साधना करते हुए दुर्भाग्यवश एक मोटर दुर्घटना में सन् 1948 ई. में इनकी मृत्यु हो गयी। सुभद्रा जी की रचनाएँ निम्नलिखित हैं -

काव्य संग्रह - मुकुल, नक्षत्र, चित्राधार।

कहानी संग्रह - बिखरे मोती, उन्मादिनी।

'झाँसी की रानी', 'झंडे की इज्जत', 'स्वदेश के प्रति' आदि इनकी राष्ट्रप्रेम से युक्त तथा 'इसका रोना', 'बालिका का परिचय' आदि वात्सल्य-रस पूर्ण कविताएँ हैं।

इस प्रकार सुभद्रा जी की कविताएँ हिन्दी साहित्य की धरोहर हैं। सहज प्रभावमयी ओजपूर्ण भाषा में रचना करने की जैसी शक्ति इनमें थी वह अन्यत्र दुर्लभ है।

शिवमंगल सिंह 'सुमन' - शिवमंगल सिंह 'सुमन' का जन्म सन् 1916 ई. में एक सम्भ्रान्त क्षत्रिय परिवार में हुआ था। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से एम. ए. करने के बाद इन्होंने वहीं से हिन्दी में पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। कुछ दिनों तक नेपाल में भारतीय दूतावास के 'कल्चरल अटैची' रहने के बाद वे उज्जैन विश्वविद्यालय के कुलपति नियुक्त हुए।

प्रगतिवादी कवियों में सुमन जी का विशिष्ट स्थान है। उनकी कविता में सहज प्रवाहमयता, आस्था एवं भावुकता है। प्रकृति से लेकर मानव के आर्त क्रन्दन की करुण पुकार उनकी कविताओं में मुखरित हुई है। वे निरन्तर काव्य

सृजन करते हुए हिमालय सरीखी प्रचण्ड बाधाओं पर भी विजय प्राप्त करने की आस्था रखते हैं -

पथ की सरलता को देखकर
दो चार डग जब बढ़ गया
मेरी नजर के सामने
आकर हिमालय अड़ गया
पग के अथक प्रयास पर
विश्वास बढ़ता ही गया।

सुमन जी कृत रचनाएँ निम्नलिखित हैं - काव्य संग्रह - हिल्लोले जीवन के गान, प्रलय सृजन, विश्वास बढ़ता ही गया, पर आँखें नहीं भरीं, कटे अँगूठों की बंदनवारें, वाणी की व्यथा, मिट्टी की बारात।

प्रश्न 60. निम्नलिखित विधाओं पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखें - संस्मरण, गीतिनाट्य, गद्य काव्य, रिपोर्ताज।

उत्तर - संस्मरण - गद्य साहित्य की अन्य विधाओं में संस्मरण साहित्य आधुनिक युग की जीवन्त एवं विकासोन्मुख विधा है। संस्मरण का अर्थ होता है - स्मृति अथवा यादगारी। जब लेखक अपने सम्पर्क में आये महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों, घटनाओं एवं दृश्यों को याद कर उस पर अपनी रसभरी लेखनी से रोचक ढंग से प्रकाश डालता है तो वह संस्मरण साहित्य होता है।

हिन्दी में संस्मरण लेखन का प्रारम्भ 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ से माना जाता है। सन् 1907 ई. में बालमुकुन्द गुप्त ने प्रतापनारायण मिश्र पर एक रोचक संस्मरण लिखा। इसके उपरान्त बाबू श्यामसुन्दर दास ने लाला भगवानदीन पर एवं रामदास गौड़ ने राय देवी प्रसाद तथा श्रीधर पाठक पर सुन्दर संस्मरण की रचना की।

प्रारम्भिक संस्मरण लेखकों में पद्म सिंह शर्मा एवं श्रीराम शर्मा का अन्यतम स्थान है। पद्म सिंह शर्मा के 'पद्मपराग' एवं श्रीराम शर्मा के 'सन् बयालीस के संस्मरण' उत्कृष्ट कोटि के संस्मरण हैं। महादेवी वर्मा के 'स्मृति की रेखाएँ' तथा 'पथ के साथी' नामक संग्रहों में रोचक संस्मरण संगृहीत हैं। आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने राजनीतिक, वैज्ञानिक एवं साहित्यिक व्यक्तियों पर जीवन्त संस्मरणों की रचना की है।

पं. बनारसीदास चतुर्वेदी हिन्दी के अत्यन्त सफल एवं प्रसिद्ध संस्मरण-लेखक हैं। उनके 'संस्मरण' नामक संग्रह में 21 संस्मरण हैं। रामवृक्ष बेनीपुरी ने 'जंजीरें

और दीवारें' नामक संस्मरण में जेल-जीवन की खट्टी-मीठी स्मृतियों को सँजोया हैं। इसके अतिरिक्त पं. किशोरी दास वाजपेयी के 'साहित्यिक जीवन के संस्मरण', कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' के 'जिन्दगी मुस्कराई', भगवती प्रसाद वाजपेयी के 'महाप्राण निराला' भी हिन्दी के अच्छे संस्मरण हैं।

उपर्युक्त लेखकों के अतिरिक्त राहुल सांकृत्यायन, देवेन्द्र सत्यार्थी, इलाचन्द्र जोशी, सेठ गोविन्द दास, श्रीमती ललिता शास्त्री, ओंकार शरद, क्षेमेन्द्र 'सुमन', डॉ. भगवान दास माहौर आदि हिन्दी के मँजे हुए प्रख्यात संस्मरण लेखक हैं।

गीतिनाट्य - गीतिनाट्य को दूसरे शब्दों में 'काव्यरूपक' भी कहा जाता है। गीतिनाट्य में पात्रों के बाहरी संघर्ष की अपेक्षा आंतरिक मानसिक संघर्ष एवं अन्तर्द्वन्द्व को अधिक उजागर किया जाता है। संपूर्ण गीति नाट्य में लयात्मकता होती है। गीतों के माध्यम से ही इसके पात्र अपने मनोभावों को विभिन्न हाव-भावों के द्वारा प्रकट करते हैं।

हिन्दी गीति नाट्यों की परम्परा भी काफी समृद्ध एवं सतत प्रवाहमान रही है। बाबू गुलाब राय प्रभृति विद्वानों ने जयशंकर प्रसाद विरचित 'करुणालय' को हिन्दी का प्रथम गीति नाट्य माना है। इसमें राजा हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहित के जीवन से संबंधित घटना का अंकन है।

इसके उपरान्त विभिन्न हिन्दी गीति नाट्यों की रचना हुई। श्री मैथिलीशरण गुप्त का 'अनघ', सियारामशरण गुप्त का 'उन्मुक्त', हरिकृष्ण प्रेमी का 'स्वर्णविहान', उदयशंकर भट्ट का 'राधा', सुमित्रानन्दन पंत का 'रजत-शिखर', भगवतीचरण वर्मा का 'महाकाल', 'द्रौपदी' तथा गिरिजा कुमार माथुर का 'इन्दुमती' हिन्दी साहित्य के उत्कृष्ट एवं अमर गीति नाट्य हैं।

विभिन्न गीति नाट्यकारों में श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' एवं डॉ. धर्मवीर भारती का अन्यतम स्थान है। दिनकर के 'मगध-महिमा' एवं 'उर्वशी' उत्कृष्ट गीति नाट्य के नमूने हैं। डॉ. धर्मवीर भारती कृत 'अंधायुग' एक महत्त्वपूर्ण गीति नाट्य है। इसका कथानक महाभारत पर आधारित है। इस गीतिनाट्य का कई बार विभिन्न नाट्य संस्थाओं द्वारा मंचन हो चुका है।

गद्यकाव्य - गद्यकाव्य एवं गद्यगीत मूलतः समानार्थी शब्द हैं। गद्य में जब काव्य अथवा गीत के समान सरसता एवं प्रवाहमयता आ जाती है तो उसे गद्य काव्य कहा जाता है। कुछ विद्वान गद्य काव्य का प्रादुर्भाव भारतेन्दु के काल से मानते हैं तो कुछ विद्वानों ने इसे बंगला गद्यकाव्य से प्रभावित माना है। डॉ. कमलेश ने भारतेन्दु जी को ही हिन्दी का पहला गद्य काव्यकार माना है।

वास्तव में भारतेन्दु युग में ही रोचक गद्य काव्यों की रचना होने लगी थी परन्तु उसमें लयात्मकता, एकरसता एवं गीत के समान मार्मिकता लाने में श्री रायकृष्णदास एवं वियोगी हरि का अन्यतम स्थान है। रायकृष्णदास का प्रथम गद्यकाव्य-संग्रह 'साधना' प्रकाशित हुआ जिसमें इस विधा को स्थायी रूप प्रदान किया गया। वियोगी हरि की 'तरंगिणी' और चतुरसेन शास्त्री की 'अंतस्तल' गद्यकाव्य की अच्छी कृतियाँ हैं। इनके उपरान्त रायकृष्णदास के 'छायापथ', 'प्रबाल' और 'बंगला' नामक गद्य-काव्यों के प्रकाशन के साथ इस विधा को काफी स्थायित्व प्राप्त हुआ।

गद्य काव्य को निरन्तर प्रगति-पथ पर अग्रसरित करने में हृदयनारायण पाण्डेय, देवदूत विद्यार्थी, जगदीश झा विमल, वृन्दावन लाल वर्मा, मोहन लाल महतो 'वियोगी', भगवती चरण वर्मा एवं रामकुमार वर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं।

गद्य काव्य के क्षेत्र में दिनेश नन्दिनी डालमिया का आगमन एक अविस्मरणीय घटना कही जायेगी। उनके गद्यकाव्य संग्रहों में 'शबनम' 'शारदीया', 'जाग्रत स्वप्न' आदि प्रमुख हैं। श्री माखन लाल चतुर्वेदी का 'साहित्य देवता' एवं चतुरसेन शास्त्री का 'जवाहर' गद्य काव्य के अच्छे नमूने हैं।

गद्यकाव्य के अन्य लेखकों में श्री रघुवीर नारायण सिंह, बालकृष्ण बल्दुवा, रामनारायण सिंह, विद्यावती भार्गव, स्नेहलता शर्मा, महावीर शरण अग्रवाल आदि प्रमुख हैं।

यद्यपि गद्यकाव्य हिन्दी साहित्य की एक अनूठी एवं हृदयस्पर्शी विधा है फिर भी इसका जितना अधिक विकास होना चाहिए उतना नहीं हो सका है। अतः इसका विकास संतोषजनक नहीं कहा जा सकता।

रिपोर्ताज - 'रिपोर्ताज' शब्द फ्रेंच भाषा का शब्द है। अंग्रेजी में इसके लिये 'रिपोर्ट' शब्द का प्रचलन है तथा ठेठ हिन्दी में इसे 'रपट लिखना' कहा जाता है। हिन्दी में इसके लिए 'सूचनिका' शब्द भी प्रचलित है, पर व्यवहार में 'रिपोर्ताज' शब्द ही प्रयुक्त है।

रिपोर्ताज घटना प्रधान होता है तथा यह पत्रकारिता से सम्बन्धित है। जब लेखक किसी घटना को सरस साहित्यिक शैली में तथ्यतः प्रस्तुत करता है तो उसे रिपोर्ताज कहा जाता है। इसमें घटनाओं का विवरण कथात्मक शैली में प्रस्तुत किया जाता है।

हिन्दी के प्रथम रिपोर्ताज लेखक श्री रांगेय राघव माने जाते हैं, जिन्होंने सन् 1940 में 'बंगाल के अकाल' पर एक सरस और मार्मिक 'रिपोर्ट' तैयार की।

विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से आजकल विभिन्न समस्याओं एवं घटनाओं पर सुन्दर 'रिपोर्ताज' के सृजन हो रहे हैं। प्रकाश चन्द्र गुप्त, प्रभाकर माचवे, श्याम परमार, विष्णु प्रभाकर, ठाकुर प्रसाद सिंह, धर्मवीर भारती आदि आजकल के रिपोर्ताज लेखकों में शीर्षस्थ हैं।

फणीश्वर नाथ रेणु का 'एकलव्य के नोट्स', विवेकी राय का 'बाढ़ ! बाढ़ !! बाढ़ !!!, डॉ. भगवतशरण उपाध्याय का 'खून के छींटे', श्रीकान्त वर्मा का 'मुक्ति फौज' आदि हिन्दी के मार्मिक रिपोर्ताज हैं।

आजकल धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, ज्ञानोदय, कल्पना आदि पत्रिकाओं में उत्कृष्ट, मार्मिक एवं प्रभावोत्पादक रिपोर्ताज लिखे जा रहे हैं। देश-विदेश की महत्त्वपूर्ण घटनाओं की घटाटोप में 'रिपोर्ताज' जैसी साहित्यिक विधा निरन्तर अपनी जीवंतता बनाये रखेगी।

प्रश्न 61. निम्नलिखित टिप्पणियाँ लिखें - आत्मकथा, जीवनी साहित्य, यात्रा साहित्य, रेखाचित्र।

उत्तर - आत्मकथा - आत्मकथा का अर्थ है - अपनी कथा। जब कोई साहित्यकार अपने जीवन से संबंधित घटनाओं को काल क्रमानुसार लिपिबद्ध करता है तो उसे आत्मकथा कहते हैं। हिन्दी में मूलतः धार्मिक, राजनीतिक एवं साहित्यिक गतिविधियों से संबंधित आत्मकथाएँ लिखी गयी हैं।

हिन्दी में आत्मकथा लेखन की शुरुआत अठारहवीं सदी के जैन कवि बनारसीदास द्वारा रचित 'अर्द्धकथा' से मानी जाती है। परन्तु यह पद्य में लिखी गयी आत्मकथा है। गद्य में आत्मकथा लेखन का प्रारम्भ भारतेन्दु जी रचित 'कुछ आप बीती, कुछ जग बीती' से माना जाता है। परन्तु भारतेन्दु जी की असामयिक मृत्यु के कारण उनकी यह आत्मकथात्मक कृति पूरी न हो सकी।

सन् 1901 ई. में पं. अम्बिकादत्त व्यास ने 'निज वृत्तांत' के नाम से अपनी आत्मकथा लिखी। इसके उपरान्त श्री सत्यानन्द अग्निहोत्री कृत 'मुझ में देव जीवन का विकास', महावीर प्रसाद द्विवेदी की 'मेरी जीवन रेखा', बाबू श्यामसुन्दर दास कृत 'मेरी आत्मकहानी', राहुल सांकृत्यायन की 'मेरी जीवन-यात्रा', वियोगी हरि की 'मेरा जीवन प्रवाह', उग्र जी की 'अपनी खबर', वृन्दावन लाल वर्मा की 'अपनी कहानी' आदि उत्कृष्ट कोटि के आत्मकथात्मक साहित्य लिखे गये। इनके अतिरिक्त बाबू गुलाब राय, सियारामशरण गुप्त एवं उपेन्द्र नाथ अश्क आदि ने भी अपनी-अपनी आत्मकथाएँ लिखी हैं।

महात्मा गांधी एवं पं. जवाहरलाल नेहरू की आत्मकथाओं के भी हिन्दी

अनुवाद हुए हैं। विभिन्न राजनेताओं द्वारा लिखी गयी आत्मकथाओं में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद की 'आत्मकथा' हिन्दी साहित्य की अनूठी सम्पत्ति है। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि हरिवंश राय बच्चन ने 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ', 'नीड़ का निर्माण फिर' तथा 'प्रवासी की डायरी' के नाम से तीन खंडों में अपनी आत्मकथाएँ प्रस्तुत की हैं।

यद्यपि हिन्दी साहित्य में आत्मकथा लेखन का परिमाण अधिक नहीं है फिर भी इस लघु परिमाण में ही यह विधा अपनी समृद्धि का परिचय देती रही है।

जीवनी-साहित्य - जीवनी-साहित्य और आत्मकथा में अन्तर है। जब किसी व्यक्ति का जीवन-वृत्त कोई दूसरा व्यक्ति लिखता है तो वह जीवनी साहित्य कहलाता है और जब व्यक्ति अपनी जीवनी स्वयं लिखता है तो उसे आत्मकथा कहते हैं।

हिन्दी में जीवनी-लेखन का इतिहास मौलिक रूप में भारतेन्दु युग से ही प्रारम्भ होता है। भारतेन्दुजी ने 'चरितावली' नामक ग्रन्थ में विभिन्न व्यक्तियों के छोटे-छोटे जीवन-चरित प्रस्तुत किए हैं। सन् 1893 में कार्तिक प्रसाद खत्री ने मीराबाई का जीवन-चरित प्रस्तुत किया। इनके अतिरिक्त राधाकृष्ण दास ने 'सूरदास', 'नागरीदास का जीवन-चरित', 'भारतेन्दु का जीवन-चरित' आदि जीवनियाँ लिखीं।

द्विवेदी युग में मन्मथनाथ गुप्त, बलदेव उपाध्याय एवं सुन्दरलाल ने क्रमशः 'गुरुनानक', 'शंकराचार्य' एवं 'हजरत मुहम्मद' की जीवनियाँ प्रस्तुत कीं।

द्विवेदी युग के पश्चात् मुकन्दीलाल वर्मा, देवराज मिश्र, छविनाथ पाण्डेय, रामवृक्ष बेनीपुरी एवं बलराज मधोक जैसे श्रेष्ठ जीवनी लेखकों की कृतियाँ प्रकाश में आयीं।

सर्वश्री रांगेय राघव, अमृतराय, डॉ. रामविलास शर्मा और शांति जोशी भी प्रसिद्ध जीवनी साहित्य लेखक हैं। अमृतराय ने प्रेमचन्द की जीवनी पर आधारित 'कलम का सिपाही' तथा रामबिलास शर्मा ने निराला की जीवनी से संबंधित 'निराला की साहित्य साधना' जैसे रोचक जीवनी साहित्य की रचना की है। स्व. शरत्चन्द्र चटर्जी की जीवनी पर आधारित विष्णु प्रभाकर ने 'आवारा मसीहा' नामक जीवनी साहित्य की रचना की है।

इसके अतिरिक्त घनश्यामदास बिड़ला की 'बापू', भदन्त आनन्द कौसल्यायन की 'भगवान बुद्ध' आदि सुन्दर जीवनी-साहित्य हैं। हिन्दी में राजनीतिक,

धार्मिक एवं साहित्यिक ख्याति के प्रतिष्ठित व्यक्तियों पर काफी जीवनी साहित्य की रचना हुई है। विदेशी राष्ट्र-नायकों एवं साहित्यकारों पर भी हिन्दी में उत्कृष्ट जीवनियाँ लिखी गयी हैं।

सारांशतः हिन्दी में साहित्यकारों से संबंधित और अधिक जीवनियों की आवश्यकता है ताकि उन साहित्यकारों के वैचारिक नजरिये को आसानी से समझा जा सके।

यात्रा-साहित्य - 'जब साहित्यकार अपनी यात्रा के संस्मरणों को साहित्यिक एवं कलात्मक रूप में लिपिबद्ध कर पाठकों के सम्मुख उसका जीवन्त मूर्त रूप प्रस्तुत करता है तो उसे यात्रा-साहित्य कहते हैं।' यात्रा-साहित्य को निबन्ध का ही एक विशिष्ट रूप माना जाता है।

अन्य गद्य विधाओं की भाँति यात्रा-साहित्य का आरम्भ भी भारतेन्दु के समय से ही माना जाता है। भारतेन्दु जी ने अपनी पत्रिका 'कविवचन सुधा' के विभिन्न अंकों में अपनी विभिन्न यात्राओं के वर्णन प्रस्तुत किये हैं। भारतेन्दु युग के अन्य लेखकों में बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र ने इस कार्य को आगे बढ़ाया।

द्विवेदी युग में भी यात्रा साहित्य की काफी रचना हुई। यात्रा साहित्य के लेखकों में महापंडित राहुल सांकृत्यायन का अन्यतम स्थान है। राहुल जी स्वयं घुमक्कड़ प्रवृत्ति के विद्वान व्यक्ति थे। उन्होंने अपनी पुस्तक 'घुमक्कड़ शास्त्र' में देश-विदेश में की गयी अपनी यात्राओं का बहुत ही रोचक शैली में वर्णन किया है।

राहुल के अतिरिक्त देवेन्द्र सत्यार्थी का 'चाँद सूरज के वीरन', भगवत शरण उपाध्याय का 'सागर की लहरों पर', अक्षय कुमार जैन का 'दूसरी दुनिया', यशपाल जैन का 'रूस में 46 दिन', अज्ञेय का 'अरे यायावर रहेगा याद', कन्हैया लाल मिश्र का 'मेरी इराक यात्रा', स्वामी सत्यभक्त का 'मेरी अफ्रीका यात्रा' आदि हिन्दी के उत्कृष्ट यात्रा-साहित्य हैं।

यात्रा-साहित्य के लेखकों में धर्मवीर भारती, सेठ गोविन्ददास, अमृतराय मोहन राकेश, शिवप्रसाद गुप्त, गोपाल नेवटिया, यशपाल, डॉ. नगेन्द्र, विष्णु प्रभाकर, विट्ठलदास मोदी एवं सन्तराम के नाम प्रमुख हैं।

इस प्रकार हिन्दी के यात्रा-साहित्य समृद्ध से समृद्धतर होते जा रहे हैं। यात्रा-साहित्य गद्य की प्रमुख एवं जीवन्त विधा है। यह निरन्तर प्रगति-पथ पर अग्रसर है।

रेखाचित्र - साधारणतः संस्मरण एवं रेखाचित्र परस्पर एक दूसरे से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं कि इन दोनों में अन्तर कर पाना कठिन हो जाता है। फिर भी दोनों में अन्तर अवश्य है।

"रेखाचित्र में किसी व्यक्ति, वस्तु या प्रसंग का अंकन किया जाता है। यह अंकन पूर्णतया तटस्थ भाव से किया जाता है। जिस प्रकार कुछ थोड़ी-सी रेखाओं का प्रयोग करके रेखा चित्रकार किसी व्यक्ति या वस्तु की मूलभूत विशेषता को उभार देता है उसी प्रकार कुछ थोड़े से शब्दों का प्रयोग कर संक्षिप्त कलेवर में ही जब साहित्यकार किसी व्यक्ति या वस्तु की मूलभूत विशेषताओं को उभार देता है तो उसे रेखाचित्र कहते हैं।"

हिन्दी में रेखाचित्र के प्रणेता के रूप में पं. श्रीराम शर्मा का सर्वोच्च स्थान है। 'बोलती प्रतिमा', 'प्राणों का सौदा', 'जंगल के जीव' आदि उनके उत्कृष्ट रेखाचित्र के नमूने हैं। महादेवी वर्मा के 'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाएँ' आदि में संस्मरणात्मक रेखाचित्र के नमूने देखे जा सकते हैं।

हिन्दी के अन्य रेखा चित्रकारों में रामवृक्ष बेनीपुरी, प्रकाशचन्द्र गुप्त, पं. बनारसीदास चतुर्वेदी, भगवत शरण उपाध्याय, वृन्दावन लाल वर्मा, जगदीश चन्द्र माथुर, सेठ गोविन्ददास, हरिशंकर परसाई आदि उल्लेखनीय हैं।

प्रश्न 62. गुप्त जी का जीवन परिचय देते हुए उनकी काव्यगत विशेषताओं को संक्षेप में लिखें।

उत्तर - राष्ट्रीय चेतना के अमर गायक, साहित्य परिवार के 'दद्दा', 'द्विवेदी काल की सबसे बड़ी देन' खड़ी बोली चटसार के प्रथम गुरू, पुरोधा एवं प्रथम प्रतिनिधि कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त जी का जन्म सन् 1886 ई. में उत्तर प्रदेश के झाँसी जिलान्तर्गत चिरगाँव नामक ग्राम में हुआ था। वर्षों तक अपनी साहित्य-साधना की अलख जगाते हुए, समस्त भारतवासियों को एकता एवं राष्ट्रीयता का मंत्र देते हुए हिन्दी काव्य गगन का देदीप्यमान नक्षत्र 12 दिसम्बर 1964 को सदा सर्वदा के लिए अस्त हो गया।

गुप्त जी की काव्य-प्रतिभा जन्मजात थी। सन् 1906 में वे अपनी पहली रचना 'हेमन्त' के साथ 'सरस्वती' पत्रिका में आये और देखते-देखते हिन्दी साहित्य में बहार बनकर छा गये। गुप्त जी के मौलिक एवं अनूदित ग्रंथों की संख्या 50 के लगभग है। उनके ग्रंथों में 'रंग में भंग, जयद्रथ वध, भारत-भारती, यशोधरा, द्वापर, सिद्धराज, काबा और कर्बला, साकेत, पंचवटी, प्रदक्षिणा, नहुष आदि प्रमुख हैं। इन सम्पूर्ण ग्रंथों के आधार पर गुप्तजी की काव्यगत विशेषताएँ

इस प्रकार हैं -

1. राष्ट्रीय चेतना - गुप्तजी के समय में अंग्रेजों का शासन पूर्णरूपेण स्थापित हो चुका था। बंग-भंग आंदोलन, द्वितीय विश्वयुद्ध की शुरुआत, भारत छोड़ो आन्दोलन, जलियाँवाला बाग का हत्याकांड आदि घटनाएँ राष्ट्र के समक्ष ज्वलन्त समस्या बन चुकी थीं। भारत की दुर्दशा देखकर गुप्त जी का हृदय तड़प उठा था -

हम कौन थे क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी !
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी !!

उन्होंने विदेशी को अनिष्टकारी बतलाते हुए उसे उखाड़ फेंकने की आवाज बुलन्द की -

शासन किसी परजाति का चाहे विवेक विशिष्ट हो।
सम्भव नहीं है किन्तु जो सर्वांश में वह इष्ट हो।।

2. नारी के प्रति सहानुभूति - गुप्त जी ने सदियों से उपेक्षित नारियों की मूक वेदना को पहचाना एवं उसे वाणी प्रदान करते हुए अपने काव्य में सर्वोच्च आसन पर आसीन किया। नारी त्याग और ममता की प्रतिमूर्ति है परन्तु अपने ऊपर अपने स्वामियों के अविश्वास के चलते अश्रु प्रवाहित करने वाली यशोधरा, उर्मिला एवं शकुंतला सदृश भारतीय नारी की दुर्दशा को देखकर गुप्त जी ने अपने आँसुओं से लिखा -

अबला जीवन हाय ! तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।।

गुप्त जी भारतीय नारियों की दुर्दशा पर आँसू ही नहीं बहाते, उनकी आँसुओं को पोछते हैं एवं समाज में पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त करने के लिए वे उन्हें प्रेरित करते हैं।

3. हिन्दू-मुस्लिम एकता के उद्घोषक - गुप्त जी यह जानते थे कि जब तक हिन्दू, मुस्लिम, बौद्ध-जैन, सिक्ख-ईसाई आदि अपने-अपने धर्मों की संकीर्ण सीमा को तोड़कर एकजुट नहीं होंगे तब तक न तो विदेशियों का ही मुकाबला हो सकेगा न हिंसा ही समाप्त हो सकेगी -

हिन्दू मुसलमान सब भाई, नीत नवीन जयगान उदार।
वैष्णव, बौद्ध, जैन आदिक हम उस पर हिंसा करें कि प्यार।

उन्होंने 'मंगलघट' में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि राम-रहीम, कृष्ण-करीम, बुद्ध-ईसा आदि में कोई अन्तर नहीं है।

4. वैष्णव-भावना – गुप्त जी सभी धर्मों को यद्यपि बराबर ही महत्त्व देते थे फिर भी वे एक वैष्णव भक्त थे। उन्होंने प्रायः अपने सभी ग्रंथों के आरम्भ में भगवान् विष्णु के 'राम' रूप की वंदना की है। साकेत में तो उन्होंने राम के चरित को ही काव्यमय माना है –

राम, तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है,
कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है।

यहाँ तक कि कृष्ण का स्वरूप भी उनके लिए राममय ही लगता है –

धनुर्वाण या वेणु लो, श्याम रूप के संग।
मुझ पर चढ़ने से रहा राम दूसरा रंग।।

उनके राम परात्पर, सर्वव्यापक, सर्वांतर्यामी एवं कण-कण में सर्वत्र विराजमान हैं।

5. प्रकृति-चित्रण – प्रकृति मानव की सहचरी है। वह मानव के सुख में सुखी एवं दुःख में दुःखी दिखाई पड़ती है। गुप्त जी की 'पंचवटी' तो प्राकृतिक सौन्दर्य से अनुप्राणित हो उठी है। ठीक इसी प्रकार साकेत भी प्राकृतिक सौरभ से महक उठा है। शरद ऋतु में खंजन पक्षी की सुन्दरता एवं उसकी आँखों को देखकर विरहिणी उर्मिला को यह प्रतीत होने लगता है कि खंजन रूप में उसके प्रियतम ही उसकी ओर देख रहे हैं –

निरखि सखि ये खंजन आये,
फेरे उन मेरे रंजन ने ज़यन इधर मन भाये।

इस प्रकार बहुत स्थलों पर कवि की कल्पना साकार हो उठी है।

6. भारतीय संस्कृति का जीवन्त चित्रण – गुप्त जी भारतीय संस्कृति के पोषक एवं व्याख्याता रहे हैं। उनके काव्य 'साकेत' में शुद्ध भारतीय संस्कृति के दर्शन होते हैं। साकेत के अतिरिक्त उनके अन्य ग्रंथों में भी भारतीय संस्कृति सम्बन्धी व्रत, पूजा, यज्ञ, जप-तप आदि को वरेण्य बतलाया गया है। शत्रुघ्न कहते हैं –

होते हैं निर्विघ्न यज्ञ अब, जप समाधितप पूजा पाठ,
यश गाती हैं मुनि कन्याएँ कर व्रत सर्वोत्सव के साथ।

7. साहित्यिक युगानुकूलता – गुप्त जी के काव्य साहित्यिक युगानुकूलता के प्रतीक हैं। उनकी आरम्भिक रचनाओं में इतिवृत्तात्मकता है फिर भी वे सब प्रकार के पूर्वाग्रहों से मुक्त हैं। युग की परिस्थिति एवं दशा के अनुसार वे अपने साहित्यिक परिवेश को भी बदलते चलते थे। आचार्य शुक्ल के शब्दों में – "गुप्त

जी की प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेषता है कलानुसरण की क्षमता अर्थात् उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओं और काव्य-प्रणालियों को ग्रहण करते चलने की शक्ति।''

8. भाव, भाषा एवं छन्द विधान - उनकी भाषा अत्यन्त सरल, सुबोध एवं प्रभावकारी है। भाषा में प्रतीकात्मक एवं लाक्षणिक शैली के प्रयोग अधिक वर्तमान हैं। उनकी भाषा में चित्रोपमता देखने को मिलती है। उनके काव्य में लोकोक्ति एवं मुहावरों के प्रयोग से काव्य का सौन्दर्य विधान अपनी स्वाभाविकता के साथ निखर उठा है। उनके काव्य में तत्सम, तद्भव, देशज एवं विदेशज सभी शब्दों के रूप मिलते हैं। अभिधा, लक्षणा, व्यंजना जैसी शब्द शक्तियों के साथ विभिन्न अलंकार, रस, एवं छन्दों के प्रयोग उनके काव्य में सरलता से पाये जाते हैं।

इस प्रकार गुप्त जी ने काव्य रचना के क्षेत्र में स्वयं मैथिली जैसी नारियों को राम-रूप में शरण दिया और स्वयं मैथिली अर्थात् जानकी की शरण में रहकर अपनी काव्य-वाटिका को मन-सुमनों से सजाते रहे। यही कारण है कि सत्यम् शिवम् सुन्दरम् से आप्लावित हो उनकी काव्य-वाटिका पुष्प-पराग की सुगन्ध से स्वयं तो महक ही उठी, समस्त भारतवासियों में युग-चेतना की अमृतधारा भी प्रवाहित करती रही।

प्रश्न 63. कविवर 'दिनकर' का संक्षिप्त जीवन-परिचय देते हुए उनकी काव्यगत विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर - रामधारी सिंह 'दिनकर' का जन्म बिहार के बरौनी के निकट सिमरिया नामक ग्राम में सन् 1908 ई. में हुआ था। पारिवारिक स्थिति साधारण होने के कारण बी.ए. (आनर्स) करने के बाद, ही इन्हें नौकरी करनी पड़ी। दिनकर जी पहले बिहार सरकार के राजस्व विभाग में रजिस्ट्रार और बाद में जन सम्पर्क विभाग में उपनिदेशक नियुक्त हुए। कुछ दिनों तक बिहार विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रहे। उसके बाद राज्यसभा के सम्मानित सदस्य भी रहे। 'दिनकर' जी ने अपने काव्य में भूखे, नंगे, शोषितों का यथार्थ अंकन करते हुए मस्ती से ऐश-आराम करने वाले नेताओं पर करारी चोट की है। हमारे साहित्याकाश का ऐसा 'दिनमणि' हमें जगाकर स्वयं सन् 1974 ई. में अस्ताचल-गामी हो गया।

दिनकर जी के रचित काव्य-ग्रन्थ हैं - हुकार, रेणुका, रसवन्ती, द्वन्द्वगीत, कुरुक्षेत्र, रश्मिरथी, उर्वशी आदि। उनके काव्य-संग्रहों का सम्यक् अनुशीलन करने पर उनकी निम्नलिखित काव्यगत विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं -

1. राष्ट्रप्रेम की भावना - दासता की बेड़ियों में जकड़ी भारत माता की व्यथित आत्मा को राष्ट्रकवि 'दिनकर' ने पहचाना। अतः उन्होंने भारतीय गौरव गरिमा के प्रतीक पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल 'हिमालय' के माध्यम से अर्द्धनिद्रित भारतवासियों के कानों में जागरण-मंत्र फूँका। उन्होंने भारतवर्ष के वीर पुरुषों राम-कृष्ण, बुद्ध-महावीर, अशोक, चन्द्रगुप्त, अर्जुन आदि के माध्यम से भारतवासियों के अपने गौरवमय अतीत को याद दिलाया एवं उनके पौरुष को जगाया -

जिसके द्वारों पर खड़ा क्रान्त,
सीमापति तूने की पुकार
पद दलित इसे करना पीछे
पहले ले मेरा सिर उतार।।

2. क्रांतिकारी भावना - हिन्दी साहित्य में दिनकर जी 'अनल कवि' के नाम से विख्यात हैं। दिनकर जी की कविता में सर्वत्र क्रांति की भावना विराजमान है। उन्होंने 'कुरुक्षेत्र' में स्पष्ट घोषणा की है कि न्याय की प्रतिष्ठा के लिए अन्याय एवं अत्याचार के विरुद्ध शस्त्र उठाना परम धर्म है। श्री रामवृक्ष बेनीपुरी के शब्दों में - "हमारे क्रांतियुग का सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व कविता में, इस समय दिनकर कर रहा है। क्रांतिकारी को जिन-जिन हृदय मंथनों से गुजरना होता है, 'दिनकर' की कविता में उसकी सच्ची तस्वीर है।" दिनकर जी ने स्वयं अपने को 'अनल कवि' कहा है -

ज्योतिर्धर कवि मैं ज्वलित सौरमंडल का,
मेरा शिखंड अरुणाभ, किरीट अनल का।

3. युगानुकूलता - दिनकर जी की कविताओं में युगानुकूलता के स्वर अधिक मुखरित हुए हैं। उन्होंने सन् 1962 ई. के चीनी आक्रमण पर 'चीनी है, दुश्मन है, सबके लिए काल है' कहकर चीनी साम्राज्य की भर्त्सना की थी। और देश की विषम परिस्थिति में उन्होंने गांधी जैसे सपूतों की रक्षा करने का संदेश दिया -

गिराओ बम, गोली दागो,
गांधी की रक्षा करने को गांधी से आगे भागो।

4. शोषकों के प्रति-घृणा भाव - अपने ही देश में आर्थिक विषमता को देखकर दिनकर जी का हृदय क्षोभ से भर उठा था। उन्होंने अनुभव किया कि पूँजीपतियों के कुत्तों को जो खाना मिलता है, वह गरीबों के बच्चों को भी मयस्सर नहीं है -

श्वानों को मिलता वस्त्र दूध,
भूखे बच्चे अकुलाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर,
जाड़े की रात बिताते हैं।

5. नेताओं के प्रति अविश्वास - दिनकर जी ने सत्तालोलुप दिल्लीवासी नेताओं के विलासी जीवन की बखिया उधेड़ते हुए देश को मरघट-समान बनाने का श्रेय उन्हीं को दिया है -

सकल देश में हलाहल है, दिल्ली में हाला है।
दिल्ली में रोशनी, शेष भारत में अँधियारा है।
मखमल के परदों के बाहर, फूलों के उस पार,
ज्यों का त्यों खड़ा आज भी मरघट सा संसार।

6. वीरता एवं शृंगारिकता की भावना - दिनकर जी मूलतः वीर रस के कवि रहे हैं। हुंकार, रेणुका, कुरुक्षेत्र, द्वन्द्वगीत आदि में उनकी वाणी की ओजस्विता ही देखने को मिलती है परन्तु उर्वशी में इन्होंने शृंगार रस की जो अबाध स्रोतस्विनी प्रवाहित की है उससे उनकी सरसता ही जाहिर होती है। इसमें कवि ने शृंगार-रस के अंतर्गत प्रेम एवं सौन्दर्य की मनोरम व्याख्या की है।

7. किसानों के प्रति सहानुभूति - दिनकर जी ने दिल्ली को वैभवशाली बनाने में किसानों को मेघ स्वरूप माना है। किन्तु जिन किसानों की मेहनत पर देश के नेता एवं पूँजीपति गुलछर्रे उड़ा रहे हैं उन किसानों की हालत कितनी दयनीय है, सोचने की बात है -

वैभव की दीवानी ! कृषक मेघ की रानी दिल्ली।
अनाचार, अपमान, व्यंग्य की चुभती हुई कहानी दिल्ली।
अपने ही पति की समाधि पर कुलटे ! तू छवि से इतराती।
परदेशी संग गल बाँही दे, मन में है फूली न समाती।

8. भाषा-शैली - दिनकर के काव्य में प्रौढ़ खड़ी बोली के परिमार्जित रूप के दर्शन होते हैं। कहीं-कहीं तत्सम शब्दों की बहुलता एवं प्रतीकात्मक तथा लाक्षणिक शैली के प्रयोग मिलते हैं। अलंकार एवं रसों की दृष्टि से दिनकर के काव्य में अधिक उत्कृष्टता आ गयी है। भाषा का जो प्रवाहमय एवं ओजस्वी रूप दिनकर के काव्य में वर्तमान है वह अन्यत्र बहुत कम मिलता है।

छायावाद

प्रश्न 64. छायावाद की परिभाषा देते हुए उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

अथवा

प्रश्न 65. छायावाद की परिभाषा देते हुए उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर - साधारणतः हिन्दी साहित्य में छायावाद की कालावधि सन् 1920 ई. से 1936 ई. तक मानी जाती है। छायावाद के प्रवर्तक के रूप में किसी खास व्यक्ति का नाम नहीं लिया जाता है, फिर भी सन् 1920 ई. में 'सरस्वती' पत्रिका के जुलाई अंक में निकली श्री मुकुटधर पाण्डेय की कविता 'कुररी के प्रति' छायावाद युग की प्रथम कविता मानी जाती है। सर्वप्रथम 'छायावाद' शब्द का प्रयोग श्री मुकुटधर पाण्डेय ने ही व्यंग्य रूप में किया था। उन्होंने सन् 1920 ई. में 'श्रीशारदा' पत्रिका में हिन्दी छायावाद नामक आलोचनात्मक निबन्ध प्रकाशित कराया, तब से यह नाम रूढ़ हो गया। छायावादी कविताओं को देखते हुए उसकी विभिन्न परिभाषाएँ दी जाने लगीं। कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं -

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार - "छायावाद का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में, जहाँ उसका सम्बन्ध काव्यवस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनंत और अज्ञात प्रियतम को आलंबन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है। छायावाद शब्द का दूसरा प्रयोग काव्य-शैली या पद्धति के अर्थों में होता है।"

श्री जयशंकर प्रसाद के शब्दों में - "छायावाद से तात्पर्य कविता की एक ऐसी प्रणाली से है, जो भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। उसमें ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक विधान तथा उपचार वक्रता के साथ-साथ स्वानुभूति की निवृत्ति रहती है और जिसमें अपने भीतर से मोती के पानी की तरह अन्तर स्पर्श करके भाव समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति को महत्त्व दिया जाता है।"

महादेवी वर्मा के शब्दों में - "छायावाद तत्त्वतः प्रकृति के बीच जीवन का उद्गीथ है।"

पंत जी के अनुसार - "छायावादी प्रकृति-चित्रणों में कवि की अपनी भावनाओं के सौन्दर्य की छाया है।"

डॉ. नगेन्द्र के अनुसार - "छायावाद एक विशेष प्रकार की भाव पद्धति है। भक्ति काव्य का जिस प्रकार जीवन के प्रति एक विशेष प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण था और रीतिकाव्य दूसरे प्रकार का, उसी प्रकार छायावाद भी एक विशेष प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण है। छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं एवं छायावादी रचनाओं के आधार पर इस युग की निम्नलिखित विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं -

1. सौन्दर्य-भावना - छायावादी कविता की प्रमुख प्रवृत्ति सौन्दर्यानुभूति है। छायावाद में सूक्ष्म सौन्दर्य की प्रतिष्ठा व्यापक पैमाने पर हुई है। अमूर्त अशारीरिक सौन्दर्यप्रियता एवं सौन्दर्यबोध की स्थिति को इस युग के कवियों ने प्रकृति-चित्रण के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। छायावादी कवियों में सौन्दर्य वर्णन की सूक्ष्म झलकियाँ मिलती हैं। उन्होंने प्रकृति सौन्दर्य, नारी सौन्दर्य, पुरुष सौन्दर्य एवं अलौकिक प्रियतम के अलौकिक सौन्दर्य का वर्णन किया है। उनकी नारी केवल देह-यष्टि की सुन्दरता से ही परिपूर्ण नहीं बल्कि देवी, माँ, सहचरी आदि विभिन्न प्रकार की सुन्दरता से आवेष्ठित है।

2. प्रेम-भावना - छायावादी कवियों में प्रेम का विकास विभिन्न रूपों में हुआ है, यथा, प्रकृति प्रेम, नारी प्रेम, शिशु प्रेम, अज्ञात प्रियतम के प्रति प्रेम आदि। छायावादी कवियों की प्रेम भावना में वासना का पूर्ण अभाव है। यद्यपि इन कवियों की आरम्भिक कविताओं में हल्की लौकिक वासना अवश्य दिखाई पड़ती है परन्तु बाद में चलकर वह आध्यात्मिकता में परिवर्तित हो गयी है। वह प्रेम भावना अकेले में पड़कर करवटें बदलने वाली नहीं बल्कि मानवता से परिपूर्ण आध्यात्मिक प्रेम की रूपक हो गयी है। अपने अज्ञात प्रियतम के प्रति प्रेम निवेदन के कारण ही ये कवि रहस्योन्मुखी हो गये हैं।

3. मानवतावादी दृष्टिकोण - छायावादी कवियों के मानवतावादी दृष्टिकोण रवीन्द्रनाथ टैगोर एवं महर्षि अरविन्द से प्रभावित हैं। छायावादी साहित्य में विश्व-प्रेम की भावना अभिव्यक्त हुई है। व्यापक दृष्टि के कारण ही इन कवियों की आत्मपरक रचनाएँ भी मानवतावादी बन गयी हैं। प्रसाद के 'आँसू' आत्मपरक होकर भी जगती के दुःख को दूर करने के लिए तत्पर रहते हैं। निराला की 'सरोज-स्मृति' मानवता की कहानी है। निराला के कानों में शोषण के शिकार उस किसान की पुकार सुनाई देती है, जिसका शरीर हड्डियों का ढाँचा मात्र रह गया है -

तुझे बुलाता कृषक अधीर
ऐ विप्लव के वीर।
चूस लिया है उसका सार,
हाड़-मात्र ही है आधार।

4. नवीन मूल्यों की अभिव्यक्ति - छायावादी कवियों ने प्राचीन अंधविश्वासों, धार्मिक रूढ़ियों, थोथी नैतिकता एवं सामंतवादी मान्यताओं के प्रति घोर विरोध कर नवीन मूल्यों की स्थापना की है। ये कवि राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं साहित्यिक क्षेत्रों में पूर्णतः स्वच्छन्दवादी रहे हैं। पुरानी साहित्यिक मान्यताओं को भी इन कवियों ने उतार फेंका। अलंकार बंधन से मुक्त होने के लिए पंत जी ने आवाज लगायी -

तुम खोल सको मानव उर से निःशब्द द्वार,
वाणी मेरी चाहिए तुझे क्या अलंकार।

निराला ने 'सरोज स्मृति' के माध्यम से सामाजिक रूढ़ियों तथा अर्थपिशाचों पर करारा प्रहार किया।

5. वैयक्तिकता - छायावादी काव्य की पृष्ठभूमि में मूलतः वैयक्तिकता के ही दर्शन होते हैं। अपनी रचनाओं की प्रारम्भिक अवस्था में ये कवि अपने ही सुख-दुःख की अभिव्यक्ति में मस्त दिखाई पड़ते हैं। पंत जी को नारी की अपेक्षा प्रकृति की गोद ही प्यारी लगती है - 'बाले, तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन !' कविवर प्रसाद अपनी अतिशय वैयक्तिकता के कारण ही समाज को छोड़कर अन्यत्र चला जाना चाहते हैं -

ले चल मुझे भुलावा देकर,
मेरे नाविक धीरे-धीरे।

परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि ये कवि आजीवन व्यक्तिपरक रचनाएँ ही करते रहे। आगे चलकर इनकी रचनाओं में पूर्ण व्यापकता आ जाती है।

6. प्रकृति का मानवीकरण - प्रकृति का मानवी रूप में अंकन करना इस युग के साहित्यकारों की मुख्य विशेषता रही है। निराला की 'सन्ध्या-सुन्दरी' आकाश से धीरे-धीरे उतर रही है -

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है

वह संध्या-सुन्दरी परी सी
धीरे-धीरे।

पंत जी के लिए तो प्रकृति सहचरी, सखि, प्रेयसि, माँ सब कुछ हो गयी है -

हाँ सखि आओ बाँह थाम हम
लगकर गले जुड़ा लें प्राण
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में
हो जावें द्रुत अंतर्ध्यान।

7. नारी का स्वरूप - मध्ययुगीन नारी जहाँ शृंगारिकता के दलदल में फँसी वासना-मूर्ति बनकर रह गयी थी, वहीं छायावाद में ममता की मंजूषा, क्षमा की सुमेरु एवं विश्व की कल्याणी बन कर प्रकट हुई। प्रसाद ने नारी को श्रद्धा का पात्र बतलाते हुए उसके अधिकारों की घोषणा की -

नारी तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजत-नग पग तल में,
पीयूष स्रोत सी बहा करो जीवन के सुन्दर समतल में।

सुश्री महादेवी वर्मा, पंत एवं निराला जी ने अपने काव्य के माध्यम से समाज में नारियों को उच्चासन प्रदान कराया।

8. राष्ट्रीयता की भावना - तत्कालीन स्वदेशी आन्दोलन से प्रभावित इन कवियों में राष्ट्रीयता की भावना मुखरित हो उठी है। प्रसाद जी ने अपने देश की महिमा बखानी -

अरुण ! यह मधुमय देश हमारा,
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।

और भी -

हिमाद्रि तुंग-शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती,
स्वयंप्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती।

9. रहस्यभावना - आचार्य शुक्ल जी के शब्दों में - "छायावाद जहाँ तक आध्यात्मिक प्रेम लेकर चला है वहाँ तक तो रहस्यवाद के अंतर्गत ही रहा है।" कविवर प्रसाद एवं महादेवी जी की रचनाओं में यह रहस्य भावना अधिक दिखाई पड़ती है।

10. शृंगार भावना - छायावादी कवियों ने शृंगार का बहुत ही सूक्ष्म, मर्यादित एवं सुसज्जित वर्णन किया है। निराला ने 'प्रेम के प्रति' कविता में उसे

गले का हार बतलाया है -

प्रेम सदा ही तुम अमूल्य हो,
उर-उर के हीरों के हार।

महादेवी वर्मा अपने प्राणों का दीप जलाकर अपने प्रियतम के मार्ग को आलोकित करती रहती हैं -

मधुर मधुर मेरे दीपक जल।
युग युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल, प्रियतम का पथ आलोकित कर।

पंत की प्रारंभिक कविताएँ शृंगारिकता से परिपूर्ण हैं।

11. शैलीगत विशेषताएँ - आचार्य शुक्ल के शब्दों में - "छायावाद की शाखा के भीतर धीरे-धीरे काव्य शैली का बहुत अच्छा विकास हुआ, इसमें सन्देह नहीं। उसमें भावावेश की आकुल व्यंजना, लाक्षणिक वैचित्र्य, मूर्त प्रत्यक्षीकरण, भाषा की वक्रता, विरोध चमत्कार, कोमल पद विन्यास इत्यादि काव्य का स्वरूप संघटित करने वाली प्रचुर सामग्री दिखाई पड़ी।"

भाषा के सतत-विकास में खड़ी बोली का प्रयोग, साथ ही शब्दों का सार्थक चयन छायावाद की प्रमुख विशेषता रही है। संगीतात्मकता, लाक्षणिकता एवं प्रतीकात्मकता के सहारे इस युग के कवियों ने अपने काव्य-सौन्दर्य में अभिवृद्धि की है। मानवीकरण, विशेषण विपर्यय जैसे नूतन अलंकारों के प्रयोग इनके काव्यों में अधिक मिलते हैं।

इस प्रकार छायावाद अपनी साहित्य साधना एवं अपनी समाजोन्मुखी मानवतावादी प्रवृत्ति के कारण हिन्दी साहित्य का अभिन्न 'वाद' या अंग है। साधारणतः इसी युग में कविता ने झोपड़ियों तक पहुँचकर दीन दुखियों का दुःख सुनने और उसके समाधान के लिये पहली बार कदम बढ़ाया था।

प्रश्न 66. कविवर जयशंकर प्रसाद का संक्षिप्त जीवन परिचय प्रस्तुत करते हुए उनकी काव्यगत विशेषताओं को लिखें।

उत्तर - प्रसाद जी का जन्म काशी के एक सुप्रसिद्ध व्यापारी सुँघनी साहु के घराने में सन् 1889 ई. में हुआ था। इनके पिता श्री देवी प्रसाद सम्पन्न व्यापारी थे। इन्होंने नियमित रूप से सातवीं कक्षा तक क्वींस कॉलेज में शिक्षा प्राप्त की, तत्पश्चात् अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू, फारसी आदि विषयों का अध्ययन इन्होंने घर पर ही किया। प्रसाद जी का साहित्यिक जीवन सन् 1909-10 के आसपास शुरू होता है। ये पहले ब्रजभाषा में कविता लिखा करते थे। बाद में शुद्ध परिमार्जित खड़ी बोली को उन्होंने अपनी काव्य-रचना का माध्यम बनाया।

प्रसाद जी बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न कलाकार थे। उन्होंने कविता, नाटक, उपन्यास, निबन्ध आदि विभिन्न साहित्यिक विधाओं की रचना कर हिन्दी साहित्य को उन्नत एवं समृद्ध बनाया। प्रसाद जी ने अपने नाटकों में अतीत के सुनहले चित्र को प्रस्तुत करते हुए भारत की वर्तमान स्थिति पर दुःख प्रकट किया है। उनके द्वारा रचित ग्रन्थ हैं -

काव्य - चित्राधार, प्रेम पथिक, करुणालय, महाराणा का महत्त्व, झरना, आँसू, लहर और कामायनी।

नाटक - सज्जन, प्रायश्चित, विशाखा, अजातशत्रु, जनमेजय का नाग यज्ञ, कामना, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी।

कहानी संग्रह - छाया, प्रतिध्वनि, इन्द्रजाल, आकाशदीप, आँधी।

उपन्यास - कंकाल, तितली, इरावती।

हिन्दी के इस मूर्धन्य साहित्यकार ने जीवन के हलाहल का पान करते हुए कठिन साहित्य-साधना के कारण 48 वर्ष की अल्प आयु में ही सन् 1937 ई. में अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी।

प्रसाद जी के विशाल साहित्यिक वैभव को देखते हुए उनकी निम्नलिखित काव्यगत विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं -

1. स्वदेश प्रेम की भावना - स्वदेश प्रेम प्रसाद जी की कविताओं का प्राण है। उन्होंने अपने देश को मधुमय बतलाते हुए उसे आश्रयहीनों का आश्रयदाता बतलाया है -

अरुण ! यह मधुमय देश हमारा,
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।

देश प्रेम की भावना से प्रेरित कविवर प्रसाद जी परतंत्रता की बेड़ियों में जकड़े भारतवासियों को अपने कर्त्तव्य-पथ पर बढ़ते हुए स्वतंत्रता का आलिंगन करने का संदेश देते हैं -

हिमाद्रि तुंग-शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती,
स्वयंप्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती,
अमर्त्य वीर-पुत्र हो, दृढ़प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य-पंथ है, बढ़े चलो, बढ़े चलो।

2. नारी के प्रति सहानुभूति - प्रसाद जी ने अपने काव्य में नारी को पत्नी, प्रेयसी, सहचरी आदि रूपों में चित्रित कर उसे परवशता से मुक्त रहने का

संदेश देते हुए पुरुषों के लिए श्रद्धा का प्रतीक माना है।

नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पग तल में।
पीयूष-स्रोत सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में।

3. मानवतावादी दृष्टिकोण - प्रसाद जी मानवतावादी कवि हैं। वे जीवन में समरसता लाने के लिए प्रयत्नशील दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने 'आँसू' काव्य के माध्यम से 'चिर-दग्ध-दुःखी' वसुधा के प्रति सहानुभूति व्यक्त करते हुए संसार के दुःखों के निचोड़ को लेकर बरसने की इच्छा प्रकट की है, जिससे यहाँ कहीं भी वेदना की कहानी न हो और सभी लोग सुखी जीवन व्यतीत करें -

सबका निचोड़ लेकर तुम
सुख से सूखे जीवन में,
बरसो प्रभात हिम-कण सा
आँसू इस विश्व-सदन में।

4. प्रकृति-चित्रण - प्रकृति-चित्रण छायावादी कवियों की प्रधान विशेषता रही है। प्रसाद जी ने प्रकृति के आलम्बन एवं उद्दीपन दोनों रूपों का चित्रण किया है। उन्होंने प्रकृति के मानवीकरण रूप को ही अधिक अपनाया है। निम्न पंक्तियों में 'उषा' को 'लक्ष्मी-सी उदित' बतलाते हुए कवि ने प्रकृति का मानवीकरण बहुत ही अनूठे रूप में किया है -

उषा सुनहरे तीर बरसाती जय लक्ष्मी-सी उदित हुई।
उधर पराजित कालरात्रि भी जल में अंतर्निहित हुई।।

5. दार्शनिक भावना - प्रसाद जी आनन्दवादी कवि थे। उन्होंने प्रत्याभिज्ञा दर्शन के अनुसार आत्मा, जीव, ब्रह्म, जगत आदि का निरूपण किया है। प्रत्याभिज्ञा दर्शन में समरसता के सिद्धान्त का विशेष महत्त्व है। जब आत्मा-परमात्मा-भाव को प्राप्त होकर शिव रूप हो जाती है तो उसे सामरस्य कहते हैं। सामरस्य हो जाने पर जीव जड़ और चेतन में कोई अंतर नहीं रह जाता और सर्वत्र आनन्द का ही अखण्ड साम्राज्य बन जाता है। कामायनी में प्रसाद जी ने इसे इस प्रकार अभिव्यक्त किया है -

समरस थे जड़ या चेतन सुन्दर साकार बना था।
चेतनता एक विलसती आनन्द अखण्ड घना था।।

6. सौन्दर्य-भावना - 'छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है।' अतः इसमें सूक्ष्म सौन्दर्य का अंकन बहुत ही सफलता के साथ हुआ है। प्रसाद जी ने स्त्री के बाह्य सौन्दर्य का कम और आन्तरिक सूक्ष्म सौन्दर्य का अंकन

अधिक किया है। 'कामायनी' में प्रसाद जी ने श्रद्धा के रूप-सौन्दर्य का चित्रण बड़े ही चित्ताकर्षक रूप में किया है -

नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ बन बीच गुलाबी रंग।।

7. रस-योजना - प्रसाद जी के काव्य में प्रायः नवों रसों का सम्यक् निरूपण किया गया है। रसराज श्रृंगार का वर्णन 'कामायनी' में उन्होंने अनूठे रूप में किया है। यहाँ श्रृंगार की सभी दशाओं का पूर्ण परिपाक हुआ है। श्रृंगार के अतिरिक्त वीर, भयानक, रौद्र, करुण, अद्‌भुत, वीभत्स, वात्सल्य एवं शान्त रस की अद्‌भुत छटा उनके काव्य में विराजमान है।

शैव मत के आनन्दमार्गी-सम्प्रदाय के अनुयायी होने के कारण प्रसाद जी में श्रृंगार और शान्त रस की अबाध और प्रच्छन्न गति प्रवाहित हुई है।

8. भाषा-शैली - प्रसादजी की भाषा-शैली उनके गम्भीर व्यक्तित्व के जैसी ही सुनियोजित एवं गुरुत्वपूर्ण है। वर्ण-मैत्री, लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता आदि उनके भाषा की मुख्य विशेषताएँ हैं। उनके काव्य में लाक्षणिक एवं प्रतीकात्मक शब्दों की भरमार है। उन्होंने अपने विचारों को अधिकांशतः रूपक शैली में प्रस्तुत किया है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, मानवीकरण आदि अलंकारों को उन्होंने अपने काव्य में विशेष महत्त्व दिया है।

इस प्रकार कविवर प्रसाद की काव्य-यात्रा हिन्दी साहित्य की अनूठी संपत्ति है। उन्होंने छायावाद को जितना स्पष्ट, मार्मिक, प्रभावोत्पादक एवं गंभीर शैली के उदात्त रूप से सजाया उतना बहुत कम कवि कर पाये हैं।

प्रश्न 67. महाप्राण निराला का संक्षिप्त जीवन परिचय प्रस्तुत करते हुए उनकी काव्यगत विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर - हिन्दी साहित्याकाश में सूर्यवत् प्रकाश बिखेरने वाले पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का जन्म बंगाल के मेदिनीपुर जिले के अंतर्गत महिषादल में सन् 1896 ई. की वसंत पंचमी के दिन हुआ था। विद्या की अधिष्ठात्री माँ सरस्वती के इस वरद पुत्र ने अपने निरालेपन के द्वारा हिन्दी साहित्य में भी क्रान्ति ला दी जिसका अनुसरण आज भी हिन्दी कें विभिन्न साहित्यकारों द्वारा होता जा रहा है। इनके पिता श्री रामसहाय त्रिपाठी उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले के गढ़ाकोला ग्राम के निवासी थे और बंगाल में नौकरी करते थे।

निराला जी की आरम्भिक शिक्षा-दीक्षा बंगाल में हुई। संस्कृत, हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी आदि विषयों की जानकारी उन्होंने स्वाध्याय के बल पर प्राप्त की।

तीन वर्ष की अवस्था में निराला जी की माँ चल बसीं एवं जब ये बाईस वर्ष के हुए तो इनकी पत्नी भी ईश्वर को प्यारी हो गयी। अब क्या था, दुःख के प्रचंण्ड झंझावातों को निरन्तर सहते इनका हृदय वज्रादपि कठोर हो गया -

दुख ही जीवन की कथा रही
क्या कहूँ आज जो नहीं कही।

परन्तु इस दुःख में भी निरन्तर संघर्ष करते हुए वे पर्वत के समान अडिग एवं महासागर के समान गम्भीर एवं शान्त बने रहे।

निराला जी प्राचीन रूढ़ियों एवं परंपराओं पर कुठाराघात करने वाले प्रमुख क्रांतिकारी कवि रहे हैं। उनकी सर्वप्रथम कविता 'जुही की कली' सन् 1921 ई. में प्रकाशित हुई थी। वे एक बहुमुखी प्रतिभा के धनी कलाकार थे। उन्होंने कविता, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, रेखाचित्र, अनुवाद, जीवनी-साहित्य आदि सभी विधाओं को अपनी लेखनी द्वारा पल्लवित किया था। उनकी कविता एवं प्रबन्ध काव्यों की विशाल शृंखला रही है जो इस प्रकार है - अनामिका, परिमल, गीतिका, तुलसीदास, अणिमा, नये पत्ते, राम की शक्तिपूजा, कुकुरमुत्ता आदि।

इस विशाल काव्य-परम्परा को देखते हुए उनकी निम्नलिखित काव्यगत विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं -

1. राष्ट्रीयता की भावना - निराला की कविताओं में राष्ट्रप्रेम की भावना मुखरित हुई है। उन्होंने 'जागो फिर एक बार' कविता के माध्यम से परतन्त्र भारतवासियों को जागरूक होने का अमर सन्देश दिया है। इस कविता में उन्होंने भारत के गौरवोज्ज्वल अतीत एवं महापुरुषों का वर्णन कर भारतवासियों के हृदय में अद्‌भुत शक्ति का संचार किया है -

पशु नहीं वीर तुम
समर-शूर, क्रूर नहीं,
कालचक्र में हो दबे,
आज तुम राजकुँवर
समर सरताज।

उन्होंने 'सरस्वती-वन्दना' में वीणा वादिनी से भारत में स्वतंत्रता की अमर ध्वनि भरने की प्रार्थना की है तथा भारतवासियों की समस्त कलुषता एवं अंधकार को हटाकर ज्ञान के प्रकाश को भरने का आग्रह किया है -

वर दे, वीणावादिनि वर दे !
प्रिय स्वतंत्र-रव, अमृतमंत्र नव
भारत में भर दे !

2. प्रकृति चित्रण - प्रकृति को मानवीकरण के रूप में सजाना छायावादी कवियों की प्रमुख विशेषता रही है। निराला ने भी प्रकृति के उद्दीपन एवं आलम्बन रूपों के चित्रण के साथ-साथ उसके मानवीकरण रूप को भी दर्शाया है। अपनी 'संध्या-सुन्दरी' कविता में उन्होंने संध्या को एक सुन्दरी के रूप में चित्रित करते हुए उसे आकाश से पृथ्वी पर उतरते हुए दिखलाया है -

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या सुन्दरी परी-सी
धीरे-धीरे-धीरे।

3. सौन्दर्य-भावना - प्राकृतिक सौन्दर्य-चित्रण के अतिरिक्त शारीरिक-सौन्दर्य का चित्रण भी निराला जी ने विशद रूप से किया है, परन्तु उनकी सौन्दर्य भावना वासना के दलदल से अलग प्रच्छन्न एवं व्यापकता लिए हुए थी। उन्हें नारी के भौंहों में कुटिलता नहीं बल्कि सरलता एवं मुस्कान में शैशव के समान स्वाभाविकता दृष्टिगोचर होती है -

सरल भौंहों में था आकाश।
हास में शैशव का संसार।।

नारी की कल्याणमयी आँखों में ही निवास कर प्रेम अपना सुन्दर आकार बना पाता है -

तुम्हारी आँखों में कर वास।
प्रेम ने पाया था आकार।।

4. क्रान्ति की भावना - निराला जी स्वभावतः क्रांतिकारी कवि रहे हैं। उनका हृदय तत्कालीन मानवता पर होने वाले अनवरत अत्याचारों से कराह उठा था। उच्च वर्ग की तानाशाही, सामाजिक विवशता, राजनीतिक पराधीनता एवं शोषण की बढ़ती हुई निरन्तर प्रवृत्ति ने निराला को क्रान्तिकारी बना दिया था। उन्होंने अपनी 'बादल राग' कविता में पृथ्वी की सारी विषमताओं को मिटाने के लिए प्रलंयकारी बादल का आह्वान किया है -

तुझे बुलाता कृषक अधीर,
ऐ विप्लव के वीर !

चूस लिया है उसका सार,
हाड़-मात्र ही है आधार।

5. शोषितों के प्रति सहानुभूति - कमरतोड़ परिश्रम करने के बावजूद भी समाज के शोषित व्यक्तियों के तन पर साबुत कपड़े नहीं हैं और न क्षुधा तृप्ति के लिए भोजन ही। समाज के ऐसे शोषित व्यक्ति दर-दर की ठोकरें खाते हुए भीख माँग कर जैसे-तैसे अपना पेट पालते हैं, मुट्ठी भर दाने के लिये प्रताड़ना सहते हैं -

वह आता-
दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक।

ऐसे ही शोषण की शिकार सामाजिक विषमता की मारी पत्थर तोड़ने वाली एक श्रमिक युवती का कारुणिक दृश्य द्रष्टव्य है -

वह तोड़ती पत्थर,
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर-
वह तोड़ती पत्थर।
नहीं छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार,

6. प्राचीन रूढ़ियों का विरोध - निराला जी सदैव नवीनता के पुजारी रहे हैं। वे भारत की प्राचीन परम्पराओं जैसे - बाल विधवा को अभिशप्त जीवन बिताना या पुनः उसकी शादी न होना, जातीयता, धर्मान्धता, दहेज प्रथा आदि का घोर विरोध करते रहे। उन्होंने वीणावादिनी से भारतवर्ष में नवीनता भर देने के लिये प्रार्थना किया है -

नवगति, नवलय, ताल-छन्द नव,
नवल कंठ, नव जलद मंद्र-रव,
नव नभ के नव विहंग वृंद को
नव पर, नव स्वर दे।

इसके अतिरिक्त उन्होंने 'सरोज-स्मृति' में इन सामाजिक रूढ़ियों पर खुलकर प्रहार किया है।

7. समसामयिक स्थिति का चित्रण - निराला के काव्य में समसामयिक

अवस्थाओं का पूरा विस्तृत चित्रण मिलता है। उन्होंने अपने तीव्र व्यंग्यों के प्रहार से तत्कालीन अवसरवादी नेताओं, पूँजीपतियों एवं शोषकों की खूब अच्छी खबर ली है। मजदूरों एवं किसानों की कमाई पर फलते-फूलते पूँजीपतियों पर व्यंग्य करते हुए उन्होंने 'कुकुरमुत्ता' में लिखा है -

अबे सुन बे गुलाब
भूलमत, गर पाई खुशबू, रंगो-आब
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
डाल पर इतरा रहा, कैपिटलिस्ट।

इस प्रकार उन्होंने तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक पहलुओं का मार्मिक चित्रण किया है।

8. भाषा-शैली - निराला के काव्य में प्रौढ़, सशक्त एवं ओजस्वी भाषा के दर्शन होते हैं। इनकी भाषा माधुर्य गुण से परिपूर्ण सरल एवं सुबोध है। 'राम की शक्ति पूजा' नामक खण्ड काव्य में इनकी भाषा तत्सम शब्दावली से युक्त ओजपूर्ण है फिर भी इनकी भाषा में बोलचाल के शब्दों की भी प्रचुरता है। लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता एवं बिम्बात्मकता तो इनके काव्य में प्रचुर मात्रा में है।

निराला काव्य में उपमा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति, समासोक्ति, मानवीकरण आदि अलंकारों की छटा देखने को मिलती है, परन्तु छन्दों की दृष्टि से निराला एक क्रांतिकारी कवि रहे हैं। यद्यपि उनके काव्य में छन्द आये हैं परन्तु वे छन्दों के मोह के पीछे कविता कामिनी के नाजुक गले पर छुरी चलाना अर्थात् उसकी प्रवाहमयता एवं स्वाभाविकता में रोड़े अटकाना पसन्द नहीं करते थे। यही कारण है कि उन्होंने बाधा-रहित मुक्त छन्द का आन्दोलन चलाया।

वर्षों तक साहित्य-साधना में रत रहने के बाद हिन्दी साहित्य का यह देदीप्यमान 'सूर्य' 15 अक्टूबर, 1961 ई. को प्रयाग में ही सदा-सर्वदा के लिए अस्त हो गया।

प्रश्न 68. कविवर सुमित्रानन्दन पंत का संक्षिप्त जीवन परिचय प्रस्तुत करते हुए उनकी काव्यगत विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर - प्रकृति के कमनीय कुसुमों से शृंगार करने वाले कवि श्री सुमित्रानन्दन पंत का जन्म अल्मोड़ा की प्राकृतिक सुषमा की गोद में प्रतिपलित कौसानी ग्राम के एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण परिवार में सन् 1900 ई. में हुआ था। जन्म के कुछ घंटों के बाद ही इनकी माँ ईश्वर को प्यारी हो गयीं फलस्वरूप

बूढ़ी दादी ने ही इनका लालन-पालन किया।

इन्होंने वाराणसी के जयनारायण हाईस्कूल से मैट्रिक की परीक्षा पास कर प्रयाग के म्योर कॉलेज में नामांकन कराया, पर गांधी जी के असहयोग आन्दोलन से प्रभावित होकर पढ़ाई छोड़ दी। घर पर ही इन्होंने अंग्रेजी तथा संस्कृत साहित्य का गहन अध्ययन किया। इनकी रचनाओं पर शेली तथा कीट्स जैसे पाश्चात्य साहित्यकारों का विशेष प्रभाव रहा है। सन् 1950-57 तक ये आकाशवाणी के हिन्दी परामर्शदाता भी रह चुके हैं। इन्हें कविता संकलन 'चिदम्बरा' पर एक लाख रुपये का ज्ञानपीठ पुरस्कार भी मिला है।

काव्य के क्षेत्र में पंत जी का आगमन पहले छायावादी उसके बाद प्रगतिवादी साहित्यकार के रूप में हुआ। पंत जी मूलतः प्रकृति के कुशल चितेरे कवि थे। बाद में इन्होंने जनसाधारण को जागरण का संदेश देते हुए 'युगवाणी' की घोषणा की। इनकी प्रौढ़तम रचनाएँ आध्यात्मिक ज्ञान से ओत-प्रोत हैं।

प्रकृति के ऐसे सुकुमार कवि को प्रकृति ने ही सन् 1977 ई. में अपने आँचल में छुपाकर हमसे सदा सर्वदा के लिए जुदा कर दिया।

रचनाएँ - वीणा, पल्लव, ग्रन्थि, गुंजन, युगान्त, युगवाणी, ग्राम्या, चिदम्बरा, लोकायतन।

पंत जी की इस विशाल काव्य-रचना को देखते हुए उनकी निम्नलिखित काव्यगत विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं -

1. प्रकृति-प्रेमी - पंत जी की आरम्भिक कविताओं में प्रकृति के प्रति गहरी निष्ठा एवं आत्मसमर्पण के भाव दृष्टिगोचर होते हैं। वे प्रकृति के द्रुमों (पेड़ों) की छाया को छोड़कर किसी सुन्दरी के सुनहले बालों में अपनी आँखों को व्यर्थ उलझाना नहीं चाहते -

> **छोड़ द्रुमों की मृदु छाया**
> **तोड़ प्रकृति से भी माया**
> **बाले ! तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन।**

प्रकृति के मानवीकरण रूप के चित्रण में तो पंत जी ने कमाल ही कर दिया है। 'संध्या' कविता में आकाश से चुपचाप, मंथरगति से उतरती हुई संध्या सुन्दरी का सौन्दर्य अवलोकनीय है -

> **कहो, तुम रूपसि कौन ?**
> **व्योम से उतर रही चुपचाप**
> **छिपी निज छाया छवि में आप,**

सुनहला फैला केश-कलाप,
मधुर, मंथर, मृदु, मौन !

2. सौन्दर्य-भावना - प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ-साथ शारीरिक सौन्दर्य के उत्कृष्ट चित्रण भी पंतजी के काव्य में दर्शनीय हैं। उनकी आरंभिक कृतियों ग्रंथि, पल्लव, गुंजन आदि में उनकी सौन्दर्य भावना काफी सरल, मर्मस्पर्शी एवं हृदयग्राही है। पनघट पर पानी भरती अस्त-व्यस्त वस्त्रों में लिपटी चंचला 'ग्रामयुवती' का सौन्दर्य वर्णन द्रष्टव्य है -

पनघट पर
मोहित नारी नर......।
जब जल से भर
भारी गागर
खींचती उबहनी बट, बरबस
चोली से उभर-उभर कसमस
खिंचते संग युग रस भरे कलश,

3. रहस्यवाद - रहस्यात्मकता छायावादी कवियों की प्रमुख विशेषता रही है। कवि को ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उसे मौन रूप से कोई निमंत्रित करता है अथवा उसका कोई ऐसा सहचर है जो मौन रहते हुए भी उसका पथ-प्रदर्शन करता रहता है। यथा -

न जाने कौन, अये छविमान
जान मुझको अबोध, अज्ञान
सुझाते हो तुम पथ अनजान,
फूँक देते छिद्रों में गान
अये सुख-दुःख के सहचर मौन !
नहीं कह सकती तुम हो कौन।

4. दुःखवाद - करुणा की धारा - छायावाद के समय देश का वातावरण विभिन्न समस्याओं से घिरा निराशा और अंधकार में साँसें ले रहा था। तत्कालीन वातावरण का प्रभाव छायावादी कवियों पर भी पड़ा। पंत जी के अनुसार वेदना अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त है-

वेदना ! कैसा करुण उद्‌गार है
वेदना ही है अखिल ब्रह्माण्ड यह

तुहिन में, तृण में, उपल में, लहर में
तारकों में, व्योम में है वेदना !

छायावाद के बाद कविवर पंत जी प्रगतिवादी प्रवृत्ति की ओर उन्मुख हुए। अतः उनके काव्य में अब कोमलता की जगह यथार्थ की कठोरता आने लगी।

5. मानव-प्रेम की भावना - प्रगतिवादी कवि पंत प्रकृति-प्रेम की अपेक्षा अब मानवीय प्रेम की ओर उन्मुख हो चुके थे। उन्होंने प्रकृति को तो सुन्दर बतलाया ही, मानव को उससे भी सुन्दर बतलाया -

सुन्दर विहग, सुमन सुन्दर
मानव सबसे तुम सुन्दरतम्।

उन्होंने धरती पर स्वर्ग उतारने के लिए मानव को मानव से प्रेम रखने की उद्घोषणा की है -

मनुज प्रेम से जहाँ रह सकें - मानव ईश्वर।
और कौन-सा स्वर्ग चाहिए तुझे धरा पर ?

6. पूँजीपतियों के प्रति घृणा - प्रगतिवादी कवि पंत ने सामाजिक-आर्थिक विषमता का मूल कारण पूँजीपति वर्ग को माना है। समाज में एक ओर मृत व्यक्तियों की स्मृति में ताजमहल जैसे आडम्बरयुक्त विलासी परन्तु अनावश्यक कब्रों के निर्माण में पानी की तरह द्रव्य बहाया जाता है तो दूसरी ओर समाज के अधिकांशतः लोगों को पेट भरने के लिए न अन्न है न तन ढँकने के लिए वस्त्र। 'ताज' कविता की इन पंक्तियों में इन्हीं भावों की अभिव्यक्ति हुई है -

संग-सौंध में हो शृंगार मरण का शोभन,
नग्न, क्षुधातुर, वास-विहीन रहें जीवित जन।

7. शोषितों के प्रति उदार भावना - भारत गाँवों में निवास करता है। परन्तु दिनभर परिश्रम करने वाले किसानों एवं मजदूरों की कमाई पर पूँजीपति वर्ग के व्यक्ति गुलछर्रे उड़ाते हैं। भारतीय सभ्यता और संस्कृति की जननी गाँवों की नारकीय अवस्था को देखकर कविवर पंत का हृदय विगलित हो उठता है -

यह तो मानव लोक नहीं है यह है नरक अपरिचित,
यह भारत का ग्राम, सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित।

रात दिन कमरतोड़ परिश्रम करती एक मजदूरनी का चित्रण हृदयद्रावक हो उठा है -

सर से आँचल खिसका है- धूल भरा जूड़ा-
अधखुला वक्ष-ढोती तुम सिर पर धर कूड़ा,

हँसती बतलाती सहोदरा-सी जन-जन से,
यौवन का स्वास्थ्य झलकता आतप-सा तन से।

8. नारी के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण - पंत जी की आरम्भिक कविताओं में नारी के प्रति कोमल भावनाओं एवं मांसलता के दर्शन होते हैं परन्तु उनकी प्रगतिवादी रचनाओं में नारी पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त करती हुई मानव की सहचरी के रूप में अंकित की गयी है। परन्तु नारी के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाने में कहीं-कहीं स्वाभाविकता की जगह यांत्रिकता आ गयी है। उदाहरणार्थ-

धिक रे मनुष्य, तुम स्वच्छ, स्वस्थ, निश्चल चुम्बन
अंकित कर सकते नहीं प्रिया के अधरों पर ?
मन में लज्जित, जन से शंकित, चुपके गोपन
तुम प्रेम प्रकट करते हो नारी से कायर।

9. भाषा-शैली - पंत जी की भाषा में तत्सम, तद्भव, देशज एवं विदेशज शब्दों के समन्वित रूप देखने को मिलते हैं। उनकी छायावादी रचनाओं की भाषा तत्सम शब्दों से युक्त है परन्तु प्रगतिवादी रचनाओं की भाषा में देशज शब्दों की बहुलता एवं सरलता तथा सहजता है।

पंत जी ने अंग्रेजी के विशेषण-विपर्यय, ध्वनि-चित्रण, मानवीकरण आदि अलंकारों को अपनाया। परन्तु बाद में इन्होंने अलंकारों एवं छन्दों की बेड़ियों से अपने आप को मुक्त कर स्वतंत्र उड़ान भरी और उद्घोषित किया - ''वाणी मेरी चाहिए तुझे क्या अलंकार **!**''

सारांशतः पंत जी मननशील कवि रहे हैं। छायावाद से लेकर प्रतीकवाद तक की उनकी काव्य-यात्रा इस बात को प्रमाणित करती है कि वे किसी 'वाद' के दायरे में आजीवन बँधे रहने वाले कवि नहीं, अपितु वादों के घेरे को तोड़ आगे बढ़ने वाले प्रगतिमार्गी एवं युग-द्रष्टा कवि रहे हैं।

प्रश्न 69. कवयित्री महादेवी वर्मा की संक्षिप्त जीवनी प्रस्तुत करते हुए उनकी काव्यगत विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर - 'आधुनिक मीरा' के नाम से प्रख्यात महाश्वेता श्रीमती महादेवी वर्मा का जन्म उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद में सन् 1907 ई. में एक उच्च कायस्थ परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री गोविन्द प्रसाद वर्मा एवं माता का नाम श्रीमती हेमरानी देवी था। नौ वर्ष की बाल्यावस्था में ही इनका विवाह डा. स्वरूप नारायण वर्मा से हो गया, परन्तु एक बार ससुराल से लौट आने के

बाद ये दूसरी बार वहाँ नहीं गयीं।

इनकी प्रारंभिक शिक्षा इन्दौर और उच्च शिक्षा प्रयाग में हुई। संस्कृत से एम.ए. करने के पश्चात् महादेवी जी प्रयाग महिला विद्यापीठ में अध्यापिका बनीं और बाद में वहाँ की प्राचार्या के पद पर प्रतिष्ठित हुई। यद्यपि मूल रूप में महादेवी जी कवयित्री हैं, फिर भी निबन्ध, कहानी, संस्मरण आदि गद्य की प्रमुख विधाओं को भी इन्होंने अपनी भाव-प्रवण सौन्दर्य-महिमा से मण्डित किया है। छायावादी युग में पल कर भी वे आदि से अंत तक रहस्यवादी बनी रहीं।

महादेवी जी आरम्भ से अंत तक अपने अलौकिक प्रियतम की एकान्त-साधिका बनी रहीं। उन्हें विरह-वेदना में भी असीम सुख की प्राप्ति होती है। अतः उन्होंने अपनी इस वेदना को 'मधुमय पीड़ा' कहा है। प्रयाग में ही फरवरी 1988 को अथक साहित्य-साधना करने के पश्चात् उनका शरीर पंचभूत में लीन हो गया।

उनके काव्य संग्रह हैं - नीहार, रश्मि, नीरजा, सान्ध्य-गीत, दीपशिखा आदि। उनकी इस व्यापक काव्य-यात्रा को देखते हुए उनके काव्य की निम्नलिखित विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं -

1. अलौकिक प्रेम का चित्रण - महादेवी जी ने अपने गीतों में ब्रह्म को आलम्बन बनाकर अलौकिक प्रेम का चित्रण किया है। महादेवी जी अपने प्रियतम परमात्मा से मिलने के लिए व्याकुल हैं। उनके इस गीत में नारी हृदय की करुणा, मनुहार एवं याचना भरी हुई है। प्रिय दर्शन के लिए उनके प्राण अनुराग भरा उन्माद राग गाने लगते हैं -

जो तुम आ जाते एक बार।
कितनी करुणा कितने सँदेश पथ में बिछ जाते बन पराग,
गाता प्राणों का तार-तार अनुराग भरा उन्माद राग,
आँसू लेते वे पद पखार।

2. प्रकृति का मानवीकरण - छायावादी कवियों ने प्रकृति के उद्दीपन, आलम्बन, उपदेशक आदि रूपों का चित्रण तो किया ही है, उन पर मानवीय भावनाओं का आरोपण कर उसे साधारण मानव के समान व्यवहार करते हुए दिखाया है। महादेवी जी ने वसंत की रात्रि को एक अनिंद्यसुन्दरी की भाँति क्षितिज से धीरे-धीरे उतरते दिखाया है -

धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ वसंत-रजनी।
तारकमय नव वेणी बंधन, शीश फूल कर शशि का नूतन,

रश्मि-वलय सित घन-अवगुंठन,
मुक्ताहल अविराम बिछा दे चितवन से अपनी !
पुलकती आ वसंत-रजनी।

3. वेदना-भाव - वेदना की अभिव्यक्ति या विरह वेदना छायावादी काव्य की प्रमुख विशेषता रही है। प्रसाद की वेदना व्यापक और लोक-हित से परिपूर्ण है, निराला की वेदना दार्शनिक पृष्ठभूमि बनाती है, परन्तु महादेवी की वेदना साधना, संकल्प और लोक कल्याण की भावना से आपूरित है। महादेवी जी की पीड़ा 'मधुमय' है। वेदना में ही वह अपने प्रियतम की अनुभूति करती हैं-

पर शेष नहीं होगी यह,
मेरे प्राणों की क्रीड़ा !
तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा
तुम में ढूँढूँगी पीड़ा।

4. रहस्यवाद - महादेवी जी की रहस्य-भावना भक्तिकालीन कवियों एवं संतों जैसी साम्प्रदायिक नहीं है, बल्कि वह मानवीय धरातल पर अवस्थित है। उनकी रहस्य भावना पराविद्या की अपार्थिवता, वेदान्त के अद्वैत की छाया, लौकिक प्रेम की तीव्रता और कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य भाव से युक्त है। वेदान्त के आधार पर ही महादेवी जी ने आत्मा एवं परमात्मा की अद्वैतता को स्वीकार किया है - 'बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ।' महादेवी जी उस विराट सत्ता की चिर यौवन-सुषमा को निरखने के बनिस्बत जगती के जर्जर जीवन एवं सूखे हुए अधरों को देखना चाहती हैं -

देखूँ खिलती कलियाँ या प्यासे सूखे अधरों को,
तेरी चिर यौवन सुषमा या जर्जर जीवन देखूँ।

5. मानवतावाद - महादेवी जी की कविता मानवतावाद की उदारात्मक भावनाओं से अनुप्राणित है। इसी कारण वह विश्व में व्याप्त दुःख को मिटाने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझती हैं। कवयित्री नैसर्गिक सुषमा से परिपूर्ण कलियों को नहीं, बल्कि व्यथित मानवों के सूखे-प्यासे अधरों को देखने की आकांक्षा प्रकट करती हैं। कवयित्री का मानव-प्रेम इन शब्दों में अभिव्यक्त हुआ है -

कह दे माँ क्या अब देखूँ !
देखूँ खिलती कलियाँ या प्यासे सूखे अधरों को,
तेरी चिर यौवन-सुषमा या जर्जर जीवन देखूँ।

6. नूतन सौन्दर्य-बोध - महादेवी जी की कविताओं में सुन्दरता की ऐसी अभिव्यक्ति हुई है जो स्थूल नहीं सूक्ष्म है; लौकिक नहीं, अलौकिक है और आनन्द प्रदान करने वाली है। 'प्रिय सांध्य गगन मेरा जीवन' में कवयित्री ने अपने जीवन की तुलना संध्याकालीन आकाश से करते हुए नूतन सौन्दर्य-बोध का मर्मस्पर्शी परिचय दिया है -

प्रिय सांध्य गगन मेरा जीवन !
यह क्षितिज बना धुँधला विराग, नव अरुण अरुण मेरा सुहाग,
छाया सी काया वीतराग, सुधि-भीने स्वप्न रँगीले धन !
साधों का आज सुनहलापन, घिरता विषाद का तिमिर सघन,
संध्या का नभ से मूक मिलन, यह अश्रुमती हँसती चितवन।

7. नारी की महत्ता - महादेवी जी की कविता में नारी त्याग, बलिदान, साधना, भक्ति भावना आदि की साकार मूर्ति एवं अमोघ शक्ति का भण्डार है। महादेवी जी की नारी में ऐसी शक्ति है कि वह निस्सीम (परमात्मा) के लिए मिटना भी जानती है और स्वयं मिटकर उस निस्सीम को अपने हृदय के लघु आलय में बाँधना भी जानती है -

प्राणपिक प्रिय नाम रे कह !
मैं मिटी निस्सीम प्रिय में, बह गया बँध लघु हृदय में,
अब विरह की रात को तू चिर मिलन की रात रे कह।

महादेवी की 'नारी' अबला नहीं सबला है, अनंत शक्ति का स्रोत है।

8. लाक्षणिकता - लाक्षणिकता, छायावाद की प्रमुख विशेषता है। छायावादी कवियों ने ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जिनका शाब्दिक अर्थ अभिधा शक्ति से भिन्न लक्षणा शक्ति के द्वारा जाना जाता है। यही लाक्षणिकता है। अतः 'स्नेहहीन दीपक' का अर्थ तेल बिना जलते हुए दीपक जैसे तारे से है और 'सागर का उर जलता' का अभिप्राय समुद्र की बाड़वाग्नि से है। उदाहरणार्थ -

जलते नभ में देख असंख्यक,
स्नेहहीन नित कितने दीपक,
जलमय सागर का उर जलता
विद्युत ले घिरता है बादल !
विहँस विहँस मेरे दीपक जल !

9. कोमलकांत पदावली - महादेवी वर्मा के पदों में गेयता अधिक है।

अतः संगीतात्मकता के कारण एवं उचित शब्द-चयन, वर्ण-मैत्री आदि के कारण महादेवी जी के पदों में कोमलता आ गयी है। उनका नारी हृदय मानो उनकी कविताओं के माध्यम से फूट पड़ा है।

10. प्रतीकात्मकता - नवीनतम प्रतीकों से अपने काव्य-मंदिर को सजाना छायावादी कवियों की मूल प्रवृत्ति रही है। महादेवी जी ने अनेक प्रतीकों का प्रयोग कर अपने काव्य-कला को सुसज्जित किया है। उदाहरणार्थ 'दर्पण' को माया का प्रतीक बनाकर कवयित्री ने बहुत ही रमणीय कल्पना की है -

टूट गया वह दर्पण निर्मम !

किसमें देख सँवारूँ कुंतल अंगराग फूलों का मलमल !

11. भाषा शैली - महादेवी जी ने अपने गीतों में तत्सम एवं तद्‌भव शब्दों के साथ-साथ लोकगीतों के सरल शब्दों को भी अपनाया है। उन्होंने पूर्वाग्रह से मुक्त नवीन अलंकारों एवं छन्दों से अपने काव्य-मंडप को सजाया है।

इस प्रकार महादेवी वर्मा की काव्यगत विशेषताएँ उनकी मनोवृत्ति एवं गम्भीर चिंतन प्रक्रिया को स्पष्ट करती हैं।

प्रश्न 70. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए - कामायनी, साकेत, प्रेमचन्द, जैनेन्द्र कुमार।

उत्तर - (क) कामायनी - कामायनी कविवर जयशंकर प्रसाद द्वारा विरचित आधुनिक युग का महाकाव्य है। इसमें चिंता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, कर्म, ईर्ष्या, इड़ा, स्वप्न, संघर्ष, निर्वेद, दर्शन, रहस्य, आनन्द आदि पंद्रह सर्ग हैं। इस महाकाव्य में मानव-मनोवृत्तियों पर आधारित सृष्टि के आदिकाल के इतिहास का बहुत ही सूक्ष्म रूप में विवेचन किया गया है।

जल प्लावन के दृश्य को देखकर मनु चिंतित हो उठते हैं। चिंता के बाद उनके मन में क्रमशः आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा आदि मनोविकार उत्पन्न होते हैं और अंततः इन सबसे छुटकारा पाने के लिए वे 'आनन्द' की खोज में चल पड़ते हैं।

कामायनी की कथा में इतिहास और कल्पना का सुन्दर समन्वय है। प्रसाद जी ने कामायनी में इतिहास और कल्पना को तो सँजोया ही है पर उनका मूल उद्देश्य इतिहास और कल्पना के माध्यम से आधुनिक मानव की चिन्तनशील प्रवृत्तियों एवं उसके दुष्प्रभावों का चित्रण करना भी है। यही कारण है कि कामायनी में विभिन्न मनोवृत्तियों के सजीव चित्र मिलते हैं।

कामायनी का रूपक तत्त्व बहुत ही उत्कृष्ट एवं मार्मिक है। प्रसाद जी के

शब्दों में - "यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता का विकास रूपक है तो भी बड़ा ही भावमय और श्लाघ्य है। यह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनाने में समर्थ हो सकता है।" कामायनी में प्रसाद जी ने स्पष्ट किया है कि "बुद्धिवाद के विकास में अधिक सुख की खोज में दुःख मिलना स्वाभाविक है।" अधिक सुख की खोज में श्रद्धा को त्यागकर मनु जब इड़ा की चकाचौंध नगरी में प्रवेश कर उसके प्रेमपाश में बँध जाते हैं तो उन्हें सुख के बदले दुःख ही भोगना पड़ता है और अंततः श्रद्धा ही उनकी रक्षा कर पाती है। इड़ा जहाँ पाश्चात्य बौद्धिक नारी का प्रतीक है वहीं श्रद्धा श्रद्धायुक्त भारतीय नारी का।

कामायनी का प्रकृति चित्रण मानवीकरण से सुसज्जित हो बहुत ही भावमय एवं सरस बन गया है। इस महाकाव्य के माध्यम से प्रसाद जी ने प्रत्यभिज्ञा दर्शन की प्रतिष्ठा की है। संक्षेप में, यह हिन्दी का गौरव ग्रन्थ है।

(ख) साकेत - हिन्दी साहित्य के सर्वोत्कृष्ट गौरव ग्रन्थों में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त द्वारा प्रणीत 'साकेत' महाकाव्य का अन्यतम स्थान है। 'साकेत' अयोध्या नगरी का ही दूसरा नाम है। इस महाकाव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि श्रीरामचन्द्र के वन गमनोपरान्त रावण से युद्ध करने तक की जितनी घटनाएँ हैं, साकेतवासी साकेत में बैठे-बैठे उन सारी घटनाओं को देखते रहते हैं अतः मुख्यरूप से साकेत का ही महत्त्व है और इसी कारण इस महाकाव्य का नाम 'साकेत' पड़ा है।

गुप्त जी ने जनवरी 1916 ई. में इस महाकाव्य की रचना प्रारम्भ की एवं 1932 ई. में यह प्रकाशित हुई। इस प्रकार इसे लिखने में 15 वर्षों की अवधि लगी।

साकेत में 12 सर्ग हैं। इन सभी सर्गों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं परन्तु साकेत का नवम् सर्ग जो लक्ष्मण प्रिया उर्मिला की विरह वेदना को लेकर लिखा गया है, बहुत ही मार्मिक बन पाया है। षट-ऋतु वर्णन के अन्तर्गत गुप्त जी ने उर्मिला की विरह वेदना को बहुत ही तीव्रता प्रदान की है। गीतात्मकता नवम सर्ग की प्रधान विशेषता है। इसके एक-एक गीत इतने मार्मिक बन पड़े हैं कि महात्मा गांधी को भी इसे पढ़कर रुलाई आ गई थी। जवाब में गुप्त जी ने बापू से कहा कि मैं तो आपके लिए बकरी का दूध लाने वाला था परन्तु इस डर से न ला सका कि उर्मिला के आँसुओं से उसमें भी खारापन आ जाता। विरहिणी उर्मिला खंजन पक्षी को देखकर ऐसा अनुमान करती है कि खंजन पक्षी के रूप में उसके प्रियतम ही उसकी ओर आँखें फेरे हुए हैं।

संक्षेप में, विभिन्न काव्यादर्शों, अलंकारों, सरसता, मधुरता एवं स्वाभाविकता से परिपूर्ण साकेत महाकाव्य हिन्दी साहित्य का अनूठा ग्रन्थ बन पड़ा है।

(ग) प्रेमचन्द - उपन्यास सम्राट् प्रेमचन्द का जन्म वाराणसी जिले के लमही नामक ग्राम में सन् 1880 ई. में हुआ था। बचपन में ही ये माता के स्नेहांचल एवं पिता के प्यार से वंचित हो गये। इनका प्रारंभिक जीवन बहुत ही कष्टमय बीता। फिर भी कठिनाइयों के पंक में ये पंकज के समान खिलते रहे। किसी तरह स्वाध्याय के बल पर इन्होंने बी.ए. तक शिक्षा प्राप्त की।

कलम के इस सिपाही का साहित्यिक जीवन सन् 1901 ई. से प्रारम्भ होता है। उनकी पहली कहानी है - 'संसार का सबसे अनमोल रत्न'। सन् 1905 ई. में 'सोजे वतन' के नाम से प्रेमचन्द का कहानी संग्रह निकला परन्तु अंग्रेज अफसरों द्वारा उसकी प्रतियाँ जब्त कर ली गयीं। सर्वप्रथम 'नवाब राय' के नाम से ये अपनी कहानियाँ उर्दू में लिखा करते थे। बाद में इन्होंने हिन्दी में लिखना प्रारम्भ किया। साहित्य के क्षेत्र में वे गरीबों, दलितों, शोषितों के मसीहा बनकर आये थे। उनकी लेखनी निम्न वर्गों के लिए शीतल प्रलेप है तो उच्च वर्गीय एवं पूँजीपतियों के लिए घृणा और आक्रोश की उष्ण ज्वाला है। फिर भी समाज के सभी व्यक्तियों के साथ उनकी सहानुभूति रही है।

प्रेमचन्द की भाषा शैली सरस, सरल एवं मर्मस्पर्शी है। उनके पात्रों में कहीं भी अस्वाभाविकता नहीं मिलेगी। प्रेमचन्द जैसे साहित्यकार शताब्दियों में कहीं एक बार जन्म लेते हैं। उनके उपन्यासों के वैशिष्ट्य को निरूपित करते हुए डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है - "अगर आप उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाषा-भाव, रहन-सहन, आशा-आकांक्षा, दुःख-सुख और सूझ-बूझ जानना चाहते हैं तो प्रेमचन्द से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिल सकता।"

आजीवन साहित्य-साधना करते हुए, दलितों के प्रति सहानुभूति रखते हुए, जीवन के कटु अनुभवों का प्याला पीते हुए, दुःखों और कठिनाइयों के प्रचण्ड झंझावातों को झेलते हुए हमारे ऐसे साहित्यकार के प्राण-पक्षी सन् 1936 ई. में अपने बसेरे की ओर उड़ गये।

रचनाएँ - उपन्यास - प्रेमा, निर्मला, सेवासदन, प्रेमाश्रम, कर्मभूमि, रंगभूमि, गबन, गोदान, मंगलसूत्र आदि।

कहानियाँ - 'मानसरोवर भाग-1, 2' में करीब 350 कहानियाँ संगृहीत हैं।

(घ) जैनेन्द्र कुमार - हिन्दी कहानी एवं उपन्यास कला को नयी दिशा

प्रदान करने वाले श्री जैनेन्द्र कुमार का जन्म अलीगढ़ के कौड़ियागंज ग्राम में सन् 1905 ई. में हुआ था। प्रेमचन्द के पश्चात् जैनेन्द्र जी का आगमन हिन्दी उपन्यास एवं कथा साहित्य को एक नयी दिशा की ओर उन्मुख करता है।

जैनेन्द्र जी मूलतः हिन्दी साहित्य में मनोविश्लेषणात्मक कहानीकार माने जाते हैं। जैनेन्द्र जी की पहली कहानी 'हत्या' सन् 1927 ई. में प्रकाशित हुई। उनकी कहानियों में शरत्चन्द्र की कहानियों की छाप स्पष्ट है। इनके उपन्यासों में फ्रायड के कुंठावाद के आधार पर मानव की दमित वासनाओं, काम प्रवृत्तियों, कुंठाओं तथा मानव की आंतरिक प्रवृत्तियों का प्रभावशाली रूप में अंकन किया गया है। इनके पात्र काम, अहं, दम्भ आदि हीन ग्रंथियों से जकड़े हुए उन्हें सुलझाने के प्रयास में लगे रहते हैं, परन्तु सुलझाने के प्रयास में कहीं-कहीं उलझ भी जाते हैं।

मानव मन की आंतरिक प्रवृत्तियों के उदघाटन में इनकी भाषा शैली कहीं-कहीं दुरूह प्रतीत होती है फिर भी उसमें अधिकांशतः सरल शब्दों का ही प्रयोग है।

सारांशतः जैनेन्द्र जी प्रतिभाशाली साहित्यकार हैं। उन्होंने उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि साहित्यिक विधाओं को अपनी अदम्य मेधा शक्ति से विकासोन्मुख बनाया है। 24 दिसम्बर सन् 1988 को जैनेन्द्र जी ने इहलीला समाप्त कर दी। उनकी प्रमुख रचनाएँ इस प्रकार हैं -

कहानी-संग्रह - फाँसी, वातायन, नीलम देश की राजकन्या, एक रात, पाजेब, जयसंधि।

उपन्यास - परख, सुनीता, त्यागपत्र, कल्याणी, सुखदा, विवर्त्त।

निबन्ध-संग्रह - जैनेन्द्र के विचार, जड़ की बात, साहित्य का श्रेय और प्रेय, समय और हम।

रहस्यवाद

प्रश्न 71. 'रहस्यवाद' की पृष्ठभूमि का आकलन प्रस्तुत करते हुए उसकी प्रमुख विशेषताओं का वर्णन करें।

उत्तर - भारतवर्ष दार्शनिकों का देश है। अतः यहाँ पर सर्वत्र व्याप्त चेतन सत्ता के प्रति प्रकट किए जाने वाले रहस्यमय उद्‌गार वैदिक युग से ही मिलते हैं, परन्तु आधुनिक युग के काव्य में जिस रहस्यात्मक अनुभूति का चित्रण मिलता है उसके पीछे विभिन्न राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ भी प्रेरक रही हैं। हिन्दी साहित्य में छायावाद और रहस्यवाद दोनों का उद्‌भव और विकास एक ही साथ हुआ, दोनों धाराओं के कवि भी एक ही रहे। अतः दोनों में मूलभूत अन्तर करने में द्विविधा होने लगती है। यद्यपि दोनों धाराएँ साहित्य में अपनी अलग पहचान बना चुकी हैं, फिर भी उनकी प्रेरक परिस्थितियाँ एक ही रही हैं।

सन् 1920 से लेकर 1935 ई. तक का काल राजनीतिक उथल-पुथल, धार्मिक रूढ़ियों एवं दासताजनित निराशा, असफलता एवं विषमता का युग रहा है। इसके साथ ही अंग्रेजी एवं बंगला साहित्य में भी नयी साहित्यिक धारायें विकास पा रही थीं। अतः वर्तमान राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के साथ आयातित साहित्यिक धाराओं के प्रति भी साहित्यकारों का ध्यान गया। इस विषम परिस्थिति में दो प्रकार की धारायें हिन्दी साहित्य में प्रवाहित होने लगीं - एक छायावादी धारा और दूसरी रहस्यवादी धारा। छायावादी धारा प्राकृतिक सौन्दर्य पर आकृष्ट होकर प्रकृति की विविध भाव-भंगिमाओं को निरूपित करने में दत्तचित्त हुई और रहस्यवादी धारा प्राकृतिक सौन्दर्य का सृजन करने वाली अगोचर चेतन सत्ता से तादात्म्य स्थापित करने के लिए विविध भाव एवं चित्रमयी कल्पना द्वारा चेतन सत्ता का वर्णन करने लगी।

भारतीय साहित्य में रहस्यवाद की कल्पना कोई नयी प्रवृत्ति नहीं है, बल्कि वैदिक साहित्य से ही इसका आभास देखने को मिलता है। हिन्दी के भक्ति साहित्य में भी रहस्यवादी भावना मुखरित हुई है। कबीर एवं जायसी के ग्रंथों में उच्चकोटि के भावात्मक रहस्यवाद के दर्शन होते हैं। परन्तु छायावाद का रहस्यवाद अपनी व्यापकता एवं नूतनता के कारण अधिक महत्त्वपूर्ण है।

रहस्यवाद को विभिन्न आलोचकों ने विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया है परन्तु सबका अर्थ करीब एक ही दिशा को लक्षित करता है। कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं -

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार - "साधना के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, काव्य के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है।"

कविवर जयशंकर प्रसाद के अनुसार - "काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति की मुख्य धारा का नाम रहस्यवाद है।"

डॉ. रामकुमार वर्मा के शब्दों में - "रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है, जिनमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शांत और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहता है और वह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में अन्तर नहीं रह जाता है।"

महादेवी वर्मा के शब्दों में - "रहस्यानुभूति में बुद्धि का ज्ञेय ही हृदय का प्रेय हो जाता है।"

सारांश यह है कि इस दृश्य जगत में व्याप्त उस अज्ञात एवं अगोचर चेतन सत्ता से अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करना ही रहस्यवाद कहलाता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर छायावादी रहस्यवाद की निम्नलिखित विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं -

1. आध्यात्मिक प्रेम की प्रधानता - आध्यात्मिक प्रेम की प्रधानता रहस्यवाद की प्रमुख विशेषता है। रहस्यवादी कवि परोक्ष सत्ता को प्रियतम के रूप में ग्रहण कर उसके प्रति अपनी प्रेम भावना प्रदर्शित करते हैं। मध्यकालीन संतों एवं सूफियों में भी इस प्रकार की प्रेम भावना दिखलाई पड़ती है। आधुनिक रहस्यवादी कवियों में महादेवी वर्मा में यह विशेषता सर्वाधिक दिखलाई पड़ती है -

मुस्काता संकेत भरा नभ
क्या प्रिय आनेवाले ही हैं ?

2. मानवतावाद - आधुनिक रहस्यवादी कविता पर पाश्चात्य मानवतावाद के सिद्धान्तों का प्रभाव है। आज के रहस्यवादी कवियों ने प्रेम के द्वारा अखण्ड मानवता को स्थापित करने का प्रयास किया है। आधुनिक रहस्यवादी कवि मानवमात्र में ही उस चेतन सत्ता के दर्शन करते हैं। इसीलिए उनकी रहस्यवादी भावना मानवतावादी विचारों से ओत-प्रोत है। यही कारण है कि महादेवी जी प्रकृति के सुकुमार प्रांगण में खिली हुई कलियों को ही नहीं, बल्कि जगती के प्यासे-सूखे अधरों को भी देखना चाहती हैं -

देखूँ खिलती कलियाँ या प्यासे सूखे अधरों को,
तेरी चिर यौवन-सुषमा, या जर्जर जीवन देखूँ।
देखूँ हिम-हीरक हँसते हिलते नीले कमलों पर,
या मुरझाई पलकों से झरते आँसू-कण देखूँ।

3. आदर्श भविष्य की कल्पना - आधुनिक रहस्यवादी कवि वर्तमान विषमताओं के अतिरिक्त आदर्श भविष्य की कल्पना भी करते हैं। परन्तु वह भविष्य अत्यन्त धूमिल और रहस्यमय है। प्रसाद जी कहते हैं -

आतप तापित जीवन सुख की,
शान्तिमयी छाया के देश।
हे अनन्त की गणना देते
तुम कितना मधुमय संदेश।

4. प्रकृति में परमात्म तत्त्व के दर्शन - आधुनिक रहस्यवादी कवियों ने प्रकृति के विविध रूपों में परमात्मा की अनुभूति की है। इन कवियों ने प्रकृति के माध्यम से परम सत्ता की अलौकिकता को अभिव्यक्त किया है। प्रकृति के अनेक रूप ऐसे हैं जिन्हें देखकर असीम प्रियतम की सुधि आ जाती है। महादेवी वर्मा के प्रियतम (परमात्मा) कभी बाल-अरुण के रूप में मुस्काते हैं तो कभी सौरभ बन उड़ते हुए प्रतीत होते हैं -

मैं फूलों में रोती वे बालारुण में मुस्काते,
मैं पथ में बिछ जाती हूँ वे सौरभ में उड़ जाते।

5. प्रतीकात्मकता - प्रतीकात्मकता रहस्यवाद की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं में से एक है। रहस्यवादी कवियों ने विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से आत्मा एवं परमात्मा के सम्बन्ध को मूर्त रूप देने की चेष्टा की है। महादेवी जी अपने सूने जीवन की तुलना संध्याकालीन आकाश से करती हुई कहती हैं -

प्रिय ! सांध्य गगन मेरा जीवन।
यह क्षितिज बना धुँधला विराग
नव अरुण-अरुण मेरा सुहाग।

6. संगीतात्मकता - संगीतात्मकता रहस्यवाद की मुख्य विशेषता रही है। रहस्यवादी अभिव्यक्तियाँ अधिकांशतः व्यक्तिपरक होती हैं। यही कारण है कि इनकी व्यक्तिपरक रचनायें कोमलकांत पदावली से युक्त संगीतात्मक हो गयी हैं। चूँकि रहस्यवादी कविताओं में परमात्मा को प्रियतम मानकर उसके प्रति

समर्पण भावना दिखलाई गयी है अतः इन कविताओं में भाव प्रवणता के कारण संगीतात्मकता अनायास ही आ गयी है।

7. भाषा शैली - रहस्यवादी कवियों की भाषा शैली लालित्यपूर्ण रही है। कहीं-कहीं अज्ञात प्रियतम से अपना सम्बन्ध जोड़ने की स्थिति में रहस्यात्मकता आ गयी है और वहाँ भाषा शैली जटिल लगने लगती है। परन्तु गीतों की भाव प्रवणता एवं विभिन्न आलम्बनों के द्वारा अर्थ लगाने में विशेष असुविधा नहीं होती।

रहस्यवादी काव्य में प्रतीक योजना का बड़ा महत्त्व है। यह प्रतीक योजना हिन्दी में अंग्रेजी और बंगला काव्य के माध्यम से आयी। प्रतीकों के माध्यम से कविता में और निखार आ जाता है।

प्राचीन अलंकारों के अतिरिक्त विभिन्न नूतन अलंकारों का समावेश भी रहस्यवाद की प्रमुख विशेषता रही है। मानवीकरण, विशेषण विपर्यय आदि नवीन अलंकारों के प्रयोग मिलते हैं।

इस प्रकार भाव और भाषा दोनों की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी रहस्यवादी काव्य का पृथक् स्थान है। महादेवी वर्मा रहस्यवाद की सशक्त कवयित्री रही हैं। उनके अतिरिक्त पंत, प्रसाद, निराला, जानकी बल्लभ शास्त्री, नवीन, माखनलाल चतुर्वेदी आदि कवियों ने भी अपनी रहस्यवादी भावनाओं से हिन्दी साहित्य गगन को महिमामंडित किया है।

प्रश्न 72. 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर - हिन्दी साहित्य के रंगमंच पर छायावाद और रहस्यवाद का उद्‌भव एक ही साथ हुआ, और दोनों काव्य-धाराओं के कवि भी प्रायः एक ही रहे। जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानन्दन पंत और महादेवी वर्मा छायावाद के स्तम्भ माने जाते हैं। इन कवियों ने छायावाद को जन्म देकर तो उसे संवर्द्धित किया ही, रहस्यवादी भावनाओं से भी उसे सजाया सँवारा। अतः छायावाद और रहस्यवाद कहीं-कहीं इतनी एकरूपता प्राप्त कर लिये हैं कि उनमें मौलिक अन्तर को रेखांकित करना दुरूह प्रतीत होने लगता है। यही कारण है कि हिन्दी साहित्य के अनेक मूर्धन्य समीक्षक छायावाद और रहस्यवाद को एक मानने की भूल कर बैठे हैं। परन्तु विभिन्न विवादों के बावजूद आज दोनों में मौलिक अन्तर स्पष्ट हो गया है।

अतः छायावाद और रहस्यवाद में निम्नलिखित अन्तर हैं -

1. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार - "छायावाद में यदि एक

जीवन के साथ दूसरे जीवन की अभिव्यक्ति है अथवा आत्मा के साथ आत्मा का सन्निवेश है तो रहस्यवाद में आत्मा का परमात्मा के साथ। एक में लौकिक अभिव्यक्ति है तो दूसरे में अलौकिक।''

2. छायावाद में परमसत्ता (परमात्मा) के प्रति जिज्ञासा-भाव होता है और रहस्यवाद में उसके प्रति प्रेम होता है।

3. छायावादी कवि प्रकृति के कण-कण में परमसत्ता का अनुभव कर रोमांचित हो उठता है, पर रहस्यवादी कवि को कण-कण से प्रिय के संदेश सुनाई पड़ते हैं तथा उसकी रहस्यमयता प्रकट होती है।

4. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के अनुसार - ''छायावाद ही जब अध्यात्म का पर्दा अपने ऊपर डाल लेता है, तो वह रहस्यवाद का रूप धारण कर लेता है।''

5. रचना-विधान की दृष्टि से भी छायावाद और रहस्यवाद में अन्तर है। छायावाद में छन्दों की विविधता होती है और रहस्यवाद में एकरूपता।

6. रहस्यवाद में परम सत्ता (परमात्मा) के प्रति आत्मनिवेदन का भाव है, परन्तु छायावाद में नहीं।

7. यद्यपि छायावाद और रहस्यवाद दोनों में भाव की प्रधानता है तथापि छायावाद में शैली की प्रधानता है और रहस्यवाद में विषय की।

8. रहस्यवाद भाव प्रधान होने के कारण संगीतात्मकता से युक्त है। संगीतात्मकता छायावाद में भी है परन्तु रहस्यवाद में वह शाश्वत विराजमान है।

9. डॉ. त्रिभुवन सिंह के अनुसार - ''छायावाद शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में हुआ है वह बहुत बड़ी काव्यधारा है जिसमें 'रहस्यवाद' एक प्रवृत्ति या मनोवृत्ति विशेष है।''

इस प्रकार छायावाद और रहस्यवाद की अलग-अलग विशेषताएँ हैं। आधुनिक रहस्यवाद के निरालेपन के सम्बन्ध में महादेवी वर्मा ने लिखा है - ''उसने (रहस्यवाद ने) पराविद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली, और इन सबको सांकेतिक दाम्पत्य भाव सूत्र में बाँधकर एक निराले स्नेह-सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली, जो मनुष्य के हृदय को पूर्ण अवलंब दे सका, उसे पार्थिव प्रेम से ऊपर उठा सका, हृदय को मस्तिष्कमय और मस्तिष्क को हृदयमय बना सका। इसमें संदेह नहीं कि इस वाद में रूढ़ि बन बहुतों को भ्रम में डाल दिया है परन्तु जिन इने गिने व्यक्तियों ने इसे वास्तव में समझा, उन्हें इस निहार लोक में भी गन्तव्य मार्ग दिखाई दे सका।'' परन्तु अब रहस्यवाद और छायावाद के बीच का निहार

छँट चुका है और दोनों की स्पष्ट छवि निखर चुकी है।

प्रश्न 73. आधुनिक एवं मध्ययुगीन संत कवियों की रहस्य भावना में अन्तर स्पष्ट करें।

उत्तर - भारतभूमि दार्शनिक विचारों की जननी रही है। रहस्यात्मक भावनाओं का चिंतन एवं उसकी अभिव्यक्ति भारतीय दर्शन तथा काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति रही है। वैदिक एवं वेदान्त साहित्य में तो हमें रहस्यात्मकता के दर्शन होते ही हैं, मध्ययुगीन संत काव्यों में भी यह रहस्यात्मकता अविरल गति से प्रवाहमान रही है और आधुनिक कवियों की वाणी से यही आधुनिकता के अर्थबोध का लिबास पहने अपने नूतन संस्कार में सुसज्जित दिखाई पड़ती है।

यद्यपि रहस्यवाद का गन्तव्य मार्ग एक ही है पर उसकी अभिव्यक्ति की विभिन्न शैलियों एवं आलम्बनों के कारण मध्ययुगीन संत कवियों की रहस्य भावना से आधुनिक रहस्य भावना में कुछ मौलिक अन्तर रेखांकित किये गये हैं। वे इस प्रकार हैं -

1. मध्ययुगीन रहस्य भावना में गोचर जगत को उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया है, किन्तु आधुनिक छायावादी रहस्यवाद में जगत के प्रति आस्था दिखाई पड़ती है।

2. मध्ययुगीन कवियों की रहस्य भावना के अंतर्गत परमात्मा तत्त्व की प्राप्ति में संसार को प्रिय मिलन का बाधक माना गया है परन्तु आधुनिक रहस्यवादी कवियों ने अपनी व्यापक मानवतावादी दृष्टि के कारण संसार को प्रिय मिलन का सहायक माना है।

3. मध्ययुगीन रहस्यवाद में परम सत्ता के प्रति साधकों ने अपनी दीन भावना दिखलाई है परन्तु आधुनिक रहस्यवादी कवियों ने ऐसा नहीं किया है।

4. मध्ययुगीन रहस्य भावना में प्रियतम (परमात्मा) की प्राप्ति के प्रति संतोष भाव अभिव्यक्त है। उन कवियों ने परमात्मा से साक्षात्कार का प्रमाण प्रस्तुत किया है। परन्तु आधुनिक रहस्यवादी कवियों में प्रिय मिलन की आशा लगी ही रहती है। इन कवियों में प्रिय मिलन की ललक एवं तड़प दिखलाई पड़ती है।

5. मध्ययुगीन रहस्यवादी कवि भक्त पहले थे कवि बाद में, परन्तु आधुनिक रहस्यवादी कवि सर्वप्रथम कवि हैं भक्त नहीं, और परमात्मा का रहस्योद्घाटन करना उनकी मनोवृत्ति रही है, न कि भक्ति की तन्मयता।

इस प्रकार छायावादी कवियों का रहस्यवाद मध्ययुगीन कवियों के रहस्यवाद

से भिन्न है। छायावादी कवियों की रहस्य भावना में ज्ञान की बोझिलता नहीं है जबकि संत कवियों ने ज्ञान की बोझिलता से अपनी रहस्य भावना को दुर्बोध बना दिया है।

अतः आधुनिक रहस्यवाद में एक ही साथ परा विद्या की अपार्थिवता, वेदान्त के अद्वैत की छाया, लौकिक प्रेम की तीव्रता एवं दाम्पत्य भाव आदि के समन्वित रूप के दर्शन होते हैं। यही कारण है कि मध्ययुगीन रहस्य भावना से आधुनिक रहस्य भावना व्यापक है।

o

हालावाद

प्रश्न 74. हालावाद का संक्षिप्त परिचय देते हुए उसकी विशेषताओं को रेखांकित कीजिए।

उत्तर - हिन्दी साहित्य में 'हालावाद' की सीमावधि सन् 1933 ई. से लेकर 1936 ई. तक मानी जाती है। हिन्दी साहित्य में इस 'वाद' का आगमन फारसी-साहित्य के प्रभावस्वरूप हुआ था। छायावाद के उत्तरार्द्ध में हालावादी प्रवृत्ति का उदय हुआ जिसमें वैयक्तिकता के साथ स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के रूप प्रकट हुए थे।

सन् 1930 से लेकर 1935 तक का समय भयंकर राजनीतिक निराशा, गोलमेज कान्फ्रेन्स की असफलता, क्रांतिकारियों का दमन तथा गांधीवाद की अतिशय नैतिकता का युग रहा था। साहित्य भी इन राजनीतिक परिस्थितियों के प्रभाव से अछूता नहीं रह पाया था। अतः इस काल में दो तरह की काव्य प्रवृत्तियों का उदय हुआ। एक प्रकार की प्रवृत्ति वह थी जिसमें कुछ नवयुवक कवि सामाजिक नैतिकता प्रधान मान्यताओं का विरोध कर अपने व्यक्तिगत सुख-दुःख में खोये अपनी मस्ती के गीत गाते रहे। इस प्रकार के कवियों के साहित्य को हालावादी साहित्य कहा गया। दूसरे प्रकार की काव्य प्रवृत्ति वह थी जिसमें सभी प्रकार के अत्याचार, शोषण, विषमता आदि का विरोध कर समानता के सिद्धान्त पर आधारित शोषण विहीन समाज की स्थापना के स्वर थे। इसे 'प्रगतिवादी' साहित्य धारा कहा गया।

हिन्दी के हालावादी कवियों में हरिवंशराय बच्चन का प्रमुख स्थान है। बच्चन जी ही हिन्दी में हालावाद के प्रवर्तक माने जाते हैं। हालावादी कवियों ने फारसी के प्रसिद्ध कवि उमर खैय्याम की 'रुबाइयों' को अपने साहित्य का आदर्श बनाया। उमर खैय्याम की रुबाइयों का अंग्रेजी अनुवाद फिट्जराल्ड ने किया था। और उसी अंग्रेजी अनुवाद के माध्यम से यह कविता धारा हिन्दी में बच्चन जी द्वारा आयी। परन्तु उमर खैय्याम की रुबाइयाँ जहाँ अलौकिक अर्थ से परिपूर्ण थीं वहीं उनके अंग्रेजी एवं हिन्दी अनुवाद पूर्णतः लौकिक धरातल पर अनूदित हुए, जिसके परिणामस्वरूप सुरा, सुन्दरी जाम आदि प्रतीक पूर्णतः लौकिकता के द्योतक हो गये।

बच्चन जी ने मधुशाला, मधुबाला, मधुकलश नामक तीन हालावादी पुस्तकें लिखी हैं। इनमें बच्चन जी ने यौवन, सौन्दर्य और मस्ती के गीत गाये हैं। कवि अपनी रोमानी कल्पना के मादक उन्माद में अपने जीवन के सभी

दुःखों को भूल जाना चाहता है। उन्होंने 'मधुशाला' की भूमिका में इस तथ्य को स्वीकार करते हुए लिखा है – "आह, जीवन की मदिरा जो हमें विवश होकर पीनी पड़ी है, कितनी कड़वी है। कितनी ! यह मदिरा उस मदिरा के नशे को उतार देगी, जीवन की दुखदायिनी चेतना को विस्मृति के गर्त में गिरायेगी तथा प्रबल दैव, दुर्दम काल, निर्मम कर्म और निर्दय नियति के क्रूर कठोर, कुटिल आघातों से रक्षा करेगी। क्षीण, क्षुद्र, क्षणभंगुर, दुर्बल मानव के पास जग-जीवन की समस्त आधि-व्याधियों की यही एक महौषधि है।...... इसे पान कर और मद के उन्माद में अपने को, अपने दुःख को, अपने दुःखद समय को और समय के कठिन चक्र को भूल जा।"

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि कवि मदिरा के नशे में अपने सारे दुःख को भूल जाना चाहता है। यही उसका आदर्श वाक्य बन गया है। उसे समाज का न भय है न उसके कल्याण की चिन्ता। अतः यहाँ कवि का पूर्णतः व्यक्तिवादी स्वर मुखर है, न कि सामाजिक। हालावाद का कवि संसार से अलग अपने अहं के कारागार में बंद हो अपना उन्मादक राग अलापता है –

मैं स्नेह सुरा का पान किया करता हूँ,
मैं कभी न जग का ध्यान किया करता हूँ,
जग पूछ रहा उनको, जो जग की गाते,
मैं अपने मन का गान किया करता हूँ।

कवि अपने को संसार से उपेक्षित अनुभव करता है, फलस्वरूप उसके मन में पैदा हुई निराशा उसे संसार से मुख मोड़ लेने के लिए विवश कर देती है। कवि बच्चन के जीवन में जो भयंकर हाहाकार एवं चीत्कार मचा हुआ है उसका कारण कुछ सामाजिक एवं कुछ व्यक्तिगत है। अपनी पहली पत्नी के मरणोपरान्त कवि बच्चन का संसार सूना हो गया। इस आघात को वे मदिरालय में जाकर शराब के नशे में चूर हो तो नहीं भुला सकते थे अतः उन्होंने अपने इस दुःख के अवसान हेतु नशीली काव्य रचनाओं का सहारा लिया। अतः उनकी ये रचनायें पूर्णतः वैयक्तिक हो गयीं।

परन्तु संसार से विमुख होकर व्यक्ति कब तक रह सकता है। यथार्थ पर पर्दा डालने के लिये मदिरा का सहारा कब तक वांछनीय है ? सुरा, सुन्दरी के गीत में निमग्न कवि की जब आँखें खुलती हैं तो फिर वही सत्य उसे दिखलाई देने लगता है जिसे भुलाने के लिए उसने मदिरा का पान किया था। कवि अनुभव करता है कि जिस संसार से पलायन हो हमने जाम को पकड़ा था, वह

मेरी क्षणिक दुर्बलता थी। अतः हे संसार ! तुम्हारी जय हो, तुम्हारे सामने मैंने अपनी पराजय स्वीकार की -

जय हो हे संसार तुम्हारी।
जहाँ झुके हम, वहाँ तनो तुम,
जहाँ मिटे हम, वहाँ बनो तुम,
तुम जीते उस ठौर, जहाँ पर हमने बाजी हारी।

चेत होने पर बच्चन जी संसार से पलायनवादी नहीं होते बल्कि पूर्ण पुरुषार्थी बन मधु की जगह लोहे के चने चबाने के लिए तैयार हो जाते हैं -

मधुबाला का राग नहीं अब,
अंगूरों का बाग नहीं अब,
अब लोहे के चने मिलेंगे
दाँतों को अजमाओ,
आगे हिम्मत करके आओ।

उनके 'बंगाल का अकाल', सूत की माला', 'खादी के फूल' आदि रचनाओं में वे पूर्णतः समाजवादी बन गये हैं।

बच्चन जी के अतिरिक्त हालावादी कवियों में भगवतीचरण वर्मा, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' आदि प्रमुख रहे हैं। परन्तु इन कवियों की प्रगतिवादी रचनायें भी कम नहीं हैं। अंचल मूलतः प्रेम, यौवन और सौन्दर्य के कवि रहे हैं वे सौन्दर्य को आराधना की वस्तु न मान, भोग की वस्तु मानते हैं -

आज सोहाग हरूँ मैं किसका, लूटूँ किसका यौवन ?
किस परदेशी को बन्दी कर, सफल करूँ यह वंदन ?

परन्तु परवर्ती रचनाओं में अंचल जी प्रगतिवादी हो गये हैं।

यद्यपि हालावाद के सभी कवि जितने ही अधिक व्यष्टिवादी रहे बाद में चलकर वे उतने ही अधिक समष्टिवादी हो गये, परन्तु हालावाद ने हमें जो काव्य-दर्शन कराये वह मांसलता, कुंठा, अहंवादिता और नपुंसकता को ही उजागर करते हैं।

संक्षेप में हालावादी काव्य धारा की निम्नलिखित विशेषताएँ रही हैं -

1. अतिशय व्यक्तिवादिता, 2. पलायनवादी स्वर, 3. संकीर्ण मनोवृत्ति (असामाजिक दृष्टिकोण), 4. ईश्वर के प्रति अविश्वास, 5. सहज, सरस एवं सुबोध भाषा शैली, 6. गीतात्मकता।

इस प्रकार हालावादी काव्य यद्यपि विभिन्न व्यक्तिवादी, पलायनवादी आदि अवगुणों से युक्त रहा है पर इसकी एक सबसे बड़ी उपलब्धि भी रही है। वह है - एक सहज, सरस एवं संगीत-समन्वित काव्य-भाषा की। बच्चन जी ने छायावादी जटिल प्रतीक-विधान, लाक्षणिक, सांकेतिक आदि विभिन्न क्लिष्ट काव्य शैलियों का परित्याग कर अत्यन्त सरल, सुबोध एवं सरस गीतात्मक भाषा शैली को अपनाया था।

प्रगतिवाद

प्रश्न 75. प्रगतिवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं उसकी परिभाषा को प्रस्तुत करते हुए उसकी सामान्य प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालें।

उत्तर - हिन्दी साहित्य में प्रगतिवादी काव्य-प्रवृत्ति का आगमन समय की माँग थी। छायावाद की अतिशय भावुकता, सूक्ष्म सौन्दर्यांकन तथा घोर वैयक्तिकता की प्रतिक्रिया स्वरूप सामाजिकता की प्रवृत्ति को लेकर प्रगतिवादी काव्य-प्रवृत्ति दलितों, शोषितों और मजदूरों के प्रति सहानुभूति और संवेदना की भावना लेकर आयी।

पृष्ठभूमि - साहित्य में प्रगतिवादी विचारधारा मार्क्सवादी विचारधारा से पूर्णतः प्रभावित है। यह विचारधारा तीन रूपों में हमारे सामने आती है - द्वंद्वात्मक भौतिकवाद, मूल्यवृद्धि का सिद्धान्त तथा मूल सभ्यता के विकास की व्याख्या। मार्क्स के अनुसार इस जगत की उत्पत्ति एवं उन्नति द्वंद्व से हुई है। दो वस्तुओं के द्वन्द्व से तीसरी वस्तु उत्पन्न होती है और क्रम बढ़ता चला जाता है। उन्होंने विश्व मानवता को शोषक और शोषित दो वर्गों में बाँटा है। सन् 1919 में रूसी क्रांति के फलस्वरूप मार्क्सवादी विचारधारा को काफी फूलने-फलने का अवसर मिला। रूसी साहित्य मार्क्सवादी चिंतन पद्धति से भर उठा जिसमें जन-साधारण, किसानों, मजदूरों के प्रति सहानुभूति एवं पूँजीपतियों के प्रति आक्रोश के स्वर अधिक मुखरित हुए।

सन् 1935 में पेरिस में ई. एम. फारेस्टर के नेतृत्व में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना हुई। इसी संस्था के प्रभाव स्वरूप भारत में भी सन् 1936 में प्रेमचन्द के सभापतित्व में 'भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' का प्रथम अधिवेशन हुआ। अतः हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद का प्रारंभ सन् 1936 ई. से माना जाता है। पंत जी ने अपनी रचना 'युगांत' से छायावादी युग का अंत कर 'युगवाणी' से प्रगतिवादी युग का स्वागत किया।

छायावाद के पतन का कारण बताते हुए पंत जी ने लिखा है - "छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी, नवीन आदर्शों का प्रकाश, नवीन भावना का सौन्दर्य बोध और नवीन विचारों का रस नहीं था।"

लक्ष्मीकांत वर्मा ने प्रगतिवाद की व्याख्या करते हुए लिखा है - "प्रगतिवाद सामाजिक यथार्थवाद के नाम पर चलाया गया वह साहित्यिक आंदोलन है जिसमें जीवन और यथार्थ के वस्तु-शब्द को उत्तर छायावाद काल में प्रश्रय

मिला और जिसने सर्वप्रथम यथार्थवाद की रूप-सम्मत साहित्यिक चेतना को अग्रसर होने की प्रेरणा दी।"

तथ्यतः हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य में मार्क्सवाद और भारतीय विचारधारा का समन्वय हुआ है। प्रगतिवादी साहित्य का सम्यक् विवेचन करने पर इसकी निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ या विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं -

1. सामाजिक यथार्थवाद - सामाजिक यथार्थ का चित्रण करना प्रगतिवादी साहित्य का मुख्य ध्येय रहा है। समाज में व्याप्त उच्च और निम्न वर्गों के बीच की आर्थिक विषमता को चित्रित करना प्रगतिवादी साहित्यकार का मूल काम्य है। यही कारण है कि कृषक, मजदूर एवं टूटी-फूटी गंदी बस्तियों में दम तोड़ते, नारकीय जीवन व्यतीत करते दरिद्रता के दलदल में फँसे व्यक्तियों को देखकर प्रगतिवादी कवि कराह उठता हैं। -

यह तो मानव लोक नहीं है
यह है नरक अपरिचित
यह भारत का ग्राम,
संस्कृति सभ्यता से निर्वासित।

2. सामयिक समस्याओं का चित्रण - प्रगतिवादी कवियों ने भारत-पाक विभाजन, कश्मीर समस्या, बंगाल का अकाल, महँगाई, बेकारी, चरित्रहीनता, विज्ञान का अभिशाप आदि सामयिक समस्याओं का मार्मिक चित्रण किया है। महात्मा गाँधी के निधन पर कविवर नागार्जुन की लेखनी रो पड़ती है -

बापू मरे
अनाथ हो गयी भारत माता।

हिरोशिमा शहर की विध्वंश लीला को देखकर कविचंद कुंअर का हृदय तड़प उठता है -

हिरोशिमा का शाप
एक दिन न्यूयार्क भी मेरी तरह हो जायेगा
जिसने मिटाया है मुझे वह भी मिट जायेगा।

बंगाल के अकाल के समय लोगों की दयनीय अवस्था का चित्रण करते हैं, श्री केदार नाथ अग्रवाल -

बाप बेटा बेचता है
भूख से बेहाल होकर

धर्म धीरज प्राण खोकर
हो रही अनरीति बर्बर
राष्ट्र सारा देखता है।

3. बौद्धिकता एवं व्यंग्य का प्रसार – प्रगतिवादी कवि पूँजीपतियों, राजनीतिज्ञों, सरकारी दफ्तरों में काम की रवैयों तथा आर्थिक विषमता के समर्थकों को अपने व्यंग्य वाणों की बौछार से आहत कर देता है। कागज में आजादी तो मिल गयी पर वास्तविक आजादी का मिलना अभी कोसों दूर है। नागार्जुन खद्दरधारी नेताओं पर अपना तीर चलाते हैं –

ज़मींदार हैं, साहूकार हैं, बनिया हैं, व्यापारी हैं,
अन्दर अन्दर विकट कसाई बाहर खद्दरधारी हैं।

4. रूढ़ि, धर्म और ईश्वर का विरोध – प्रगतिवादी कवि आत्मा-परमात्मा, पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक आदि में विश्वास नहीं करता। वह जातीयता एवं साम्प्रदायिकता का विरोधी है। वह सामाजिक रूढ़ियों एवं परम्पराओं को प्रगति विरोधी मानता है।

5. शोषितों का करुण गान – प्रगतिवादी कवियों ने पूरे संसार को दो वर्गों में विभाजित किया है –

इस दुनिया में दो दुनिया हैं,
जिनके नाम अमीर-गरीब।

शोषण की मार को निरन्तर सहते, अशिक्षित ग्रामीण युवकों एवं अभाव के कारण असमय बूढ़ी होती युवतियों की करुण अवस्था को देखकर कविवर नरेन्द्र शर्मा का हृदय दो टूक हो जाता है –

यहाँ बिलखते लाल देख लो
और निरक्षर युवक कुमार
वंचित व्यथित युवतियाँ देखो
कुम्हलाती कलियाँ सुकुमार।

6. शोषकों के प्रति घृणा – प्रगतिवादी कवियों का मुख्य स्वर गरीबों के प्रति सहानुभूति एवं शोषकों के प्रति आक्रोश एवं घृणा का रहा है। कविवर नरेन्द्र शर्मा कहते हैं – 'पेट काटकर महल बना है, दुनिया के मजदूरों का।' श्रमिकों की गर्दन को रेतने वाले पूँजीपतियों पर कविवर नागार्जुन अपना आक्रोश प्रकट करते हैं –

लाख लाख श्रमिकों का गर्दन कौन रहा है रेत
छीन चुका है कौन करोड़ों खेतिहरों के खेत
किसके बल पर कूद रहे हैं सत्ताधारी प्रेत ?

7. क्रांति की भावना एवं वर्ग संघर्ष का चित्रण - प्रगतिवादी कवियों के अनुसार क्रांति एवं वर्ग संघर्ष के बिना आर्थिक समानता नहीं लायी जा सकती। इसीलिए कवि अंचल उस समाज का विध्वंस देखना चाहते हैं जो शोषणपन की नींव पर निर्मित है -

हो यह समाज चिथड़े चिथड़े
शोषणपन जिसकी नींव पड़ी।

कविवर पंत इसी विषमता को देखकर क्रांति का आह्वान करते हैं -

गा कोकिल बरसा पावक-कण।
नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन।

और नेताशाही तथा भ्रष्टाचार से पूर्ण सत्ता को बदलने के लिए नागार्जुन का विद्रोही मन पुकार उठता है -

निश्चय राज्य बदलना होगा शासक नेताशाही का
पद लोलुपता दलबन्दी का भ्रष्टाचार तबाही का।

8. मार्क्स अथवा रूस का गुणगान - मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित प्रगतिवादी कवि पंतजी मार्क्स का प्रशस्ति गायन करते हैं -

धन्य मार्क्स चिर तमाच्छन्न पृथ्वी के उदय शिखर पर।
तुम त्रिनेत्र के ज्ञान चक्षु से प्रकट हुए प्रलयंकर।।

रूस का स्तवन करते हुए नरेन्द्र शर्मा ने कहा है -

लाल रूस है ढाल साथियों ! सब मजदूर किसानों की,
वहाँ राज है पंचायत का, वहाँ नहीं है बेकारी।
लाल रूस का दुश्मन साथी ! दुश्मन सब इंसानों का,
दुश्मन है सब मजदूरों का, दुश्मन सभी किसानों का।।

9. नारी सम्बन्धी विचार - प्रगतिवादी कवियों ने नारी को वासना की पुतली न समझकर उसे मानवी रूप में प्रतिष्ठित किया। पंत जी के शब्दों में -

योनि नहीं है रे नारी; वह भी मानवी प्रतिष्ठित।
उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे न नर पर अवसित।।

10. भाषा-शैली - प्रगतिवादी कवियों की भाषा-शैली सरल, सुबोध एवं ग्रामीण बोलियों की सहज प्रवाहमयता से परिपूर्ण है। प्रगतिवादी कवियों ने छन्द के बंधनों के मोह को उतार फेंका एवं अलंकारों के रजतपाश को तोड़ जन जीवन से नये काव्य प्रतीकों को अपनाया।

इस प्रकार प्रगतिवादी साहित्य जन जीवन से जुड़ा सामाजिक यथार्थ को प्रस्तुत करने में सक्षम रहा है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में - "प्रगतिशील आंदोलन बहुत महान् उद्देश्य से चालित है। इसमें साम्प्रदायिक भाव का प्रवेश नहीं हुआ तो इसकी संभावनाएँ अधिक हैं।" परन्तु बाद में चलकर प्रगतिवादी साहित्य में मार्क्सवादी सिद्धान्तों का प्रचार अधिक होने लगा जिससे इसमें बड़बोलापन अधिक आ गया। फिर भी प्रगतिवादी साहित्य किसी न किसी रूप में आज भी जीवित है।

o

प्रयोगवाद

प्रश्न 76. प्रयोगवाद की पृष्ठभूमि का आकलन प्रस्तुत करते हुए उसकी सामान्य प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालें।

अथवा

प्रश्न 77. प्रयोगवाद के उद्‌भव एवं विकास की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए उसकी सामान्य विशेषताओं की विवेचना करें।

उत्तर - हिन्दी साहित्य के इतिहास में छायावाद और प्रगतिवाद के बाद प्रयोगवाद का नाम आता है। इसे प्रतीकवाद एवं रूपवाद भी कहा जाता है। छायावाद की अतिशय सुकुमारता के विरुद्ध 'कला, कला के लिए नहीं बल्कि 'कला जीवन के लिए' का नारा बुलंद करते हुए प्रगतिवादी साहित्यिक रंगमंच पर उपस्थित हुआ था। परन्तु बाद में चलकर प्रगतिवादी कवि मार्क्सवाद के प्रचार में इतने प्रवृत्त हो गये कि यथार्थवाद के नाम पर काव्य के क्षेत्र में काफी शुष्कता आने लगी। उस क्षण हिन्दी के अधिकांश कवि यह अनुभव करने लगे कि प्रगतिवाद कोई नूतन काव्यधारा नहीं बल्कि साहित्य के माध्यम से प्रचारित मार्क्सवादी विचारधारा है। अतः दिनकर जी के शब्दों में - "जब प्रगतिवाद के नाम पर साहित्य के कनस्तर बजाये जाने लगे तो साहित्यिक मूल्यों का ह्रास होने लगा, तब यह आवश्यक होने लगा कि हिन्दी में कला और शैली के हिलते हुए महल को फिर से सुस्थिर करने के लिए कोई बड़ा प्रयास किया जाय। वही प्रयास धीरे-धीरे बढ़कर प्रयोगवाद बन गया।"

हिन्दी साहित्य में प्रयोगवाद का जन्म सन् 1943 ई. में अज्ञेय जी के संपादकत्व में संपादित 'तार सप्तक' के प्रकाशन के साथ माना जाता है। 'तार सप्तक' की भूमिका में अज्ञेय जी ने लिखा है - "इस पुस्तक में सात कवियों की कविताओं का संग्रह हुआ है। परन्तु इन सातों में साम्य की अपेक्षा वैषम्य अधिक है। इससे निष्कर्ष निकला है कि प्रयोगवादी कवि किसी एक स्कूल के नहीं हैं, अभी राही हैं, राह के अन्वेषी हैं।"

अज्ञेय जी ने यद्यपि अपने द्वारा चलाये गये साहित्यिक आंदोलन का नाम प्रयोगवाद देना उचित नहीं समझा था, तथापि यह शब्द अधिक रूढ़ हो गया और आलोचकों ने इसका नाम प्रयोगवाद देना ही अधिक श्रेयस्कर समझा।

सन् 1947 में अज्ञेय जी के संपादन में 'प्रतीक' पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ हुआ और उसके माध्यम से इस काव्यान्दोलन को शक्ति मिली। सन् 1951 में अज्ञेय जी के संपादन में सात नये कवियों की कविताओं का संग्रह

'दूसरा सप्तक' के नाम से प्रकाशित हुआ। इसके आठ वर्ष के उपरान्त सन् 1959 ई. में अज्ञेय जी के ही संपादन में काव्य संग्रह 'तीसरा सप्तक' प्रकाशित हुआ।

इसी बीच डॉ. जगदीश गुप्त के सम्पादन में सन् 1954 ई. में 'नई कविता' नामक एक अर्द्धवार्षिक संग्रह प्रकाशित होने लगा। कुछ विद्वान प्रयोगवाद से ही 'नयी कविता' का अंकुरण मानते हैं और कुछ नयी कविता को प्रयोगवाद से बिल्कुल भिन्न मानते हैं। 'नयी कविता' प्रयोगवाद का अंकुरण भले ही हो, परन्तु साहित्य में इन दोनों काव्य प्रवृत्तियों की अलग-अलग विशेषताएँ हैं।

संक्षेप में प्रयोगवादी कवि काव्य की नूतन शैलियों एवं नये-नये बिल्कुल अछूते प्रयोगों में विश्वास करते हैं, उनकी कविता नवीन प्रतीक विधान से युक्त है, इसीलिए इन्हें प्रतीकवादी या प्रयोगवादी कवि कहा जाता है।

प्रयोगवाद की मुख्य प्रवृत्तियाँ - संक्षेप में प्रयोगवाद की निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ रही हैं -

1. वैयक्तिकता - प्रयोगवादी काव्य का मूल स्वर व्यक्तिवादी है। वैयक्तिकता की प्रवृत्ति छायावाद में भी थी, परन्तु प्रयोगवाद में इसकी पराकाष्ठा मिलती है। साधारणतः प्रयोगवादी कविताओं में दमनपूर्ण झुँझलाहट, खीझ कुंठा एवं आत्महीनता के भाव अधिक मिलते हैं जिसके कारण वह अपने अन्दर की दुनिया में ही सिमटकर रह जाता है। वह अपनी प्रेयसी के वक्ष की गहराइयों में ही डूबकर अपनी जिन्दगी गुजार देना चाहता है -

मैं सोचता था एक दिन
ये जिन्दगी के रास्ते
केवल तुम्हारे वास्ते
केवल तुम्हारे प्यार की
अमराइयों में घूमकर
केवल तुम्हारे वक्ष की
गहराइयों को चूमकर
सब बीत जायेगी उमर।

2. निराशावाद - डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त के शब्दों में - "प्रयोगवादी कवि की स्थिति उस व्यक्ति की भाँति है जिसे यह विश्वास हो कि अगले क्षण प्रलय होने वाली है, अतः वह वर्तमान क्षण में ही सब कुछ कर लेना चाहता है।" अतः

प्रलय का भय प्रयोगवादी कवि को निराशावादी बना देता है।

3. बौद्धिकता की प्रधानता - प्रयोगवादी कविता में सहृदयता की अपेक्षा बुद्धि की प्रधानता अधिक है। यही कारण है कि अतिशय बौद्धिकता के कारण इनकी कविताएँ दुरूह हो गयी हैं। कवि अज्ञेय अपनी प्रेयसी को निहारने में प्रेमभावना नहीं बल्कि दबी वासना की विकृति मानते हैं -

आओ बैठो
क्षण भर तुम्हें निहारूँ।
झिझक न हो कि निरखना
दबी वासना की विकृति है।

4. क्षण का महत्त्व - प्रयोगवादी कवि जीवन के एक-एक क्षण को महत्त्व देते हुए उसे जीवन की समग्रता से जोड़ते हैं। कविवर अज्ञेय जीवन के प्रत्येक क्षण को अमोघ, अजेय, स्वच्छंद एवं अनश्वर बताते हैं -

क्षण अमोघ है,
इतना मैंने
पहले भी पहचाना है
इसीलिए साँझ को
नश्वरता से नहीं बाँधता।

5. यथार्थवादिता - प्रगतिवादी कवि व्यंग्यात्मक ढंग से अपने भोगे हुए यथार्थ को प्रकट करता है। भवानी प्रसाद मिश्र की कविता 'गीत फरोश' में आज की बिकी हुई जिन्दगी की यथार्थता को बड़ी साफगोई से प्रस्तुत किया गया है -

जी हाँ, हुजूर मैं गीत बेचता हूँ।
मैं तरह-तरह के गीत बेचता हूँ।
मैं किसिम-किसिम के गीत बेचता हूँ।

6. उपमानों की नवीनता - प्रयोगवादी कवियों ने पुराने उपमानों एवं प्रतीकों के बाने को उतार फेंका और चौंका देने वाले नवीन उपमानों, प्रतीकों एवं रूपकों को खोज निकाला। अजीत कुमार जैन चाँदनी की उपमा रुपये से देते हुए कहते हैं -

चाँदनी चंदन सदृश
हम क्यों कहें ?

मुख हमें कमलों सरीखे क्यों दिखें ?
हम लिखेंगे
चाँदनी उस रुपये सी है कि जिसमें
चमक है पर खनक गायब है।

एक दूसरा उदाहरण -

प्यार का बल्ब फ्यूज हो गया
मेरे सपने इस तरह टूट गये
जैसे भुजा हुआ पापड़।

7. गद्यात्मकता - प्रयोगवादी कविताएँ अधिकांशतः गद्यात्मक हैं जिसमें लय और राग का अधिक समावेश नहीं है। कहीं-कहीं तुक और छन्द के नियमों से सर्वथा परे इनकी कविता गद्य जैसी लगती है।

8. भाषा-शैली - जैसा कि पहले ही उल्लिखित हो चुका है, प्रयोगवादी कवि नवीनता के उपासक रहे हैं। साहित्य के क्षेत्र में क्रांतिकारी नूतन सौन्दर्यबोध लाना ही इन कवियों की प्रयोगधर्मिता रही है।

भाषा शैली के क्षेत्र में भी इन कवियों ने चमत्कारपूर्ण रवैया अपनाया। इनकी भाषा यद्यपि जनसाधारण की ही भाषा है तथापि उसमें बौद्धिकता का आभास होने के कारण कहीं-कहीं दुरूहता आ गयी है। इसी प्रकार इन कवियों की शैली भी परम्परा से अलग परन्तु बोधगम्य है। छन्दों एवं अलंकारों के बंधन को तोड़ इन कवियों ने कविता को अबाध प्रवाहमान बनाया।

यद्यपि आरम्भ में प्रयोगवाद को कटु आलोचना का शिकार होना पड़ा था अतः उसका वास्तविक निष्पक्ष मूल्यांकन नहीं हो सका था। परन्तु अब प्रयोगवाद के प्रति उदारवादी दृष्टिकोण अपनाकर जो आलोचनाएँ हुई हैं या हो रही हैं, उससे प्रयोगवाद की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ प्रकाश में आयी हैं। प्रयोगवादी कवि समाज के यथार्थ एवं कटु सत्य के चितेरे और वक्ता रहे हैं, अतः समाज के प्रति उनकी जो देन रही है, उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

प्रश्न 78. अज्ञेय का संक्षिप्त जीवन परिचय प्रस्तुत करते हुए उनकी काव्यगत विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर - अज्ञेय का पूरा नाम सच्चिदानन्द हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' है। इनका जन्म सन् 1911 ई. में देवरिया जिले के कसिया नामक ग्राम में हुआ था। इनके पिता श्री हीरानन्द वात्स्यायन शास्त्री पुरातत्त्व विभाग के उच्च पदस्थ अधिकारी थे। अज्ञेय जी ने घर पर ही संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी और उर्दू की

प्रारम्भिक शिक्षाएँ लीं तथा लाहौर के फार्मेन क्रिश्चियन कॉलेज से बीएससी. की परीक्षा पास की।

अज्ञेय जी मूलतः प्रयोगवादी साहित्यकार हैं। इन्होंने साहित्य की जिन-जिन विधाओं को अपनाया सबमें इनकी नूतन प्रयोगवादी दृष्टि ही उभरकर सामने आयी है। इनका आगमन उपन्यास एवं कविता के क्षेत्र में एक दार्शनिक चिन्तक के रूप में हुआ है। चूँकि अज्ञेय जी बहुमुखी प्रतिभा के धनी कलाकार हैं अतः कविता, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि विभिन्न साहित्यिक विधाओं को अपनी कला से महिमामंडित करते हुए उन्हें एक नया आयाम दिया है। ये पश्चात्य साहित्यकारों एवं विचारकों से अधिक प्रभावित रहे हैं। अज्ञेय की रचनाएँ निम्नलिखित हैं -

काव्य - भग्नदूत, चिंता, इत्यलम्, हरी घास पर क्षणभर, बावरा अहेरी, इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, आँगन के पार द्वार।

उपन्यास - शेखर : एक जीवनी, नदी के द्वीप, अपने-अपने अजनबी।

कहानी संग्रह - परम्परा, कोठरी की बात, शरणार्थी।

इसके अतिरिक्त इन्होंने निबन्ध, यात्रावृत्त आदि की भी रचना की है। अज्ञेय जी की इस विशाल काव्य परम्परा को देखते हुए उनकी निम्नलिखित काव्यगत विशेषताएँ रेखांकित की गयी हैं -

1. प्रणयानुभूति - कविवर अज्ञेय के काव्य का शुभारम्भ ही प्रणय की टीस, चुभन, कसक, वेदना और छटपटाहट से हुआ है। कवि ने प्रेम को न दैवी माना है न दानवी अपितु उसे मानवी रूप में अंगीकार किया है। कवि को दुःख है कि लोग ऐसे नैसर्गिक प्रणय को भी छिपाया करते हैं -

हाय तुम्हारी नैसर्गिकता ! मानव नियम निराला है -
वह तो अपने ही में अपना प्रणय छिपाने वाला है।

2. व्यक्तिनिष्ठा - अज्ञेय की कविताओं में व्यक्तिवादिता का रूप स्पष्ट होकर उभरा है। कवि बाजरे की डोलती हुई कलगी को देखकर समर्पित हो जाता है, जो निश्चय ही उसकी व्यक्तिनिष्ठता का प्रमाण है -

या शरद की साँझ के सूने गगन की पीठिका पर
डोलती कलगी अकेली बाजरे की
और सचमुच इन्हें जब देखता हूँ
यह खुला विराना संसृति का घना हो सिमट आता है
और मैं एकान्त होता हूँ समर्पित।

3. क्षणानुभूति - कवि जीवन के प्रत्येक क्षण को अमोघ मानता है, और उसके महत्त्व को शाश्वत समझता है -

क्षण अमोघ है,
इतना मैंने
पहले भी पंहचाना है
इसीलिए साँझ को
नश्वरता से नहीं बाँधता।

4. जिजीविषा की भावना - अगणित समस्याओं के घेरे में आबद्ध आज का मानव सर्वत्र भयाक्रांत अपने जीवन के प्रति आशंकित हो उठा है। वह जीवित रहने के लिए सदैव तड़फड़ाता रहता है। उदाहरणस्वरूप -

ऊपर अधर में
हवा का एक बुलबुला भर पीने को
उछली हुई मछली
जिसकी मरोड़ी हुई देहवल्ली में
उसकी जिजीविषा की उत्कट आतुरता मुखर है।

5. आर्थिक असमानता का चित्रण - आर्थिक असमानता के कारण समाज में व्याप्त शोषण की प्रवृत्ति, भुखमरी, कुंठा एवं घुटन ने आज मानव के मानसिक संतुलन को बिगाड़ दिया है। अतः आर्थिक असमानता के मूल पूँजीपतियों के प्रति घृणा एवं आक्रोश व्यक्त करते हुए कवि कहता है -

तुम जो बड़े बड़े गद्दों पर, ऊँची दुकानों में,
उन्हें कोसते हो जो भूखे मरते हैं खानों में
तुम जो रक्त चूस ठठरी को देते हो जलदान,
सुनो तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान।

6. क्रांति की भावना - कविवर अज्ञेय ने आर्थिक विषमता को मिटाने एवं राजनीतिक न्याय प्राप्त करने के लिए क्रान्ति का आह्वान किया है। कवि का विश्वास है कि 'अग्नि धर्म' को धारण किये बिना हम न तो न्याय ही पा सकते हैं न अपने धर्म की रक्षा ही कर सकते हैं -

हमने न्याय नहीं पाया है,
हम ज्वाला से न्याय करेंगे-
धर्म हमारा नष्ट हो गया
अग्नि धर्म हम हृदय धरेंगे।

7. नूतन सौन्दर्य बोध - कविवर अज्ञेय परंपरावादी नहीं बल्कि नवीनता के पुजारी हैं। इसी कारण उन्हें सौन्दर्य चित्रण की प्राचीन पद्धति, पुरातन शैली, परंपरागत शैली आदि अच्छी नहीं लगती। कवि के नूतन सौन्दर्य बोध का एक उदाहरण -

तुम्हारे नैन
पहले भोर की दो ओस बूँदें हैं
अछूती, ज्योतिमय
भीतर द्रवित।

8. प्रकृति-चित्रण - कवि ने प्रकृति के सचेतन रूप का चित्रण बड़ी ही तत्परता के साथ किया है जिसमें प्रकृति सुन्दरी के प्रति अगाध प्रेम एवं अनन्य आस्था प्रकट करते हुए उसके विविध रूपों की झाँकियाँ अंकित की गयी हैं। सूनी सी साँझ का एक चित्र द्रष्टव्य है -

सूनी- सी साँझ
दबे पाँव मेरे कमरे में आयी थी
मुझको वहाँ देख
थोड़ा सकुचाई थी।

9. स्वदेशानुराग - कवि का हृदय देश के कण-कण में रमा हुआ है। वह झोपड़ी से लेकर हवेली तक अपने देश से परिचित है। उसे एक ओर झोपड़ों में बसे हुए असंख्य देशवासियों के प्रति प्रेम है तो दूसरी ओर सर्प के समान सभ्य देखे जाने वाले परन्तु विषैले प्रवृत्ति के पूँजीपतियों के प्रति घृणा भावना भी संचित है -

इन्हीं तृण फूस-छप्पर से
ढके ढुलमुल गँवारू
झोपड़ों में ही हमारा देश बसता है।
इन्हीं के ढोल-मादल-बाँसुरी के
उमगते सुर से
हमारी साधना का रस सरसता है।
इन्हीं के मर्म को अनजान
शहरों की ढँकी लोलुप
विषैली वासना का साँप डँसता है।

10. भाषा-शैली - अज्ञेय की भाषा में सर्वत्र विविधता के दर्शन होते हैं। कहीं संस्कृतनिष्ठ तत्सम शब्दों के रूप देखने को मिलते हैं तो कहीं तद्भव और देशज शब्दों के प्रयोग।

लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता, बिम्बविधान आदि अज्ञेय के काव्य में प्रचुर मात्रा में देखने को मिलते हैं परन्तु सर्वथा नवीन रूप में। अज्ञेय जी ने अधिकांशतः गद्यात्मक मुक्तछन्द का ही प्रयोग किया है। कहीं-कहीं उनकी कविता लय एवं छन्द से युक्त तो कहीं बिल्कुल विमुक्त है।

इस प्रकार अज्ञेय जी मूलतः प्रयोगवादी कवि हैं और यही कारण है कि उनकी प्रयोगात्मक दृष्टि उनकी कविताओं में पूर्णतः परिलक्षित है। अपनी बहुमुखी प्रतिभा के लिए कलाकार अज्ञेय जी हिन्दी साहित्याकाश में अपना अक्षुण्ण स्थान बनाये रहेंगे।

नयी कविता

प्रश्न 79. नई कविता के उद्‌भव एवं विकास की प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए उसकी प्रमुख विशेषताओं का परिचय प्रस्तुत कीजिए।

अथवा

प्रश्न 80. नई कविता का स्वरूप निर्धारित करते हुए उसकी प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर - नई कविता का जन्म प्रयोगवाद की कालावधि के अनन्तर ही हुआ। सामान्यतः सन् 1950 से 1960 ई. के अंतर्गत रची गयी उन कविताओं को नयी कविता के नाम से अभिहित किया गया जो प्रयोगवाद की प्रायोगिक मोहान्धता से अलग आधुनिक युग-बोध की यथार्थता पर अधिक आधारित रहीं।

प्रयोगवाद की सीमावधि 1943 ई. से सन् 1950 ई. तक रही। यद्यपि इसके बाद भी प्रयोगवादी रचनायें होती रहीं परन्तु प्रयोगवाद की बहती हुई साहित्य-धारा के बीच से ही 'नयी कविता' अपना अस्तित्व बनाकर उसी के साथ प्रवाहित होने लगी थी। नई कविता की दिनानुदिन बढ़ती हुई संप्रेषणीयता को देखकर प्रयोगवादी कवि भी प्रयोगवाद के खेमे से अपना नाम हटाकर नई कविता के साथ अपना तालमेल बैठाने लगे थे। यही कारण है कि नयी कविता की ओर प्रय्रोगवादी कवियों का झुकाव तो हुआ ही प्रगतिवादी एवं छायावादी कवि भी इस नवीन आंदोलन से अपने आपको अलग नहीं रख सके। अतः प्रयोगवादी, प्रगतिवादी एवं छायावादी कवियों के मिल जाने से नयी कविता का फलक काफी विस्तृत हो गया।

नयी कविता का आन्दोलन किसी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप नहीं उपजा था, बल्कि इसके उद्‌भव के मूल में प्रयोगवाद की अतिशय प्रयोगवादी प्रवृत्ति के कारण साहित्य में आयी भावानुभूति की कमी थी। प्रयोगवादी कविता यद्यपि परतंत्रता में ही पनपी थी अतः स्वदेशानुराग और विदेशियों के प्रति आक्रोश भाव उनमें मुखरित अवश्य हुआ है परन्तु सामाजिक एवं राजनीतिक धरातल पर प्रयोगवाद एवं नयी कविता की अभिव्यक्तिगत शैली प्रायः एक ही रही है। यही कारण है कि काव्य रूप को सामने रखकर प्रयोगवादी और नयी कविता में कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। बाह्य रूप को देखने से ऐसा लगता है कि दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है किन्तु आंतरिक तत्त्वों एवं अभिव्यंजना कौशल की कसौटी पर परखने के पश्चात् दोनों में स्पष्ट अन्तर दिखाई पड़ने लगता है।

परम्परा का दोनों विरोध करते हैं - नयी कविता भी और प्रयोगवाद भी, परन्तु नयी कविता परम्परा के सार्थक तत्त्वों को स्वीकार कर जीवन की बदलती हुई सार्थक मान्यताओं को भी अस्वीकार नहीं करती है। सृजनात्मक अथवा बाह्य स्वरूप में नयी कविता अपने आपको आकर्षक नहीं बना सकी बल्कि उसका बाहरी रूप प्रयोगवादी पद्धति पर आधारित अनगढ़ ही रहा, अतः उसके विचारों एवं सिद्धान्तों से अनभिज्ञ व्यक्ति उसकी आत्मा को नहीं पहचान पाये। और इसी बिन्दु पर आकर प्रयोगवादी एवं नयी कविता की पहचान धुँधली हो गयी।

प्रयोगवादी कविता के जन्मदाता के रूप में हम श्री अज्ञेय का नाम लेते हैं परन्तु इसका तात्पर्य यह न समझना चाहिए कि नयी कविता के भाव बोध से वे अलग रहे। उन्होंने स्वयं अपने को प्रयोगवादी मानने से इंकार भी किया था। उन्होंने सन् 1952 में नयी कविता शीर्षक से एक ध्वनि वार्ता इलाहाबाद से प्रसारित की थी। तत्पश्चात् श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा के संपादन में सन् 1953 ई. में 'नये पत्ते' नामक मासिक पत्रिका प्रकाशित हुई। सन् 1954 में डॉ. जगदीश गुप्त के सम्पादन में 'नई कविता' नामक एक अर्द्धवार्षिक कविता संग्रह प्रकाशित हुआ। इस प्रकार अब नयी कविता की रूपरेखा पूर्ण प्रकाश में आ गयी और इसे सजाने सँवारने में डॉ. जगदीश गुप्त ने बहुत अधिक प्रयास किया।

नयी कविता की सामान्य विशेषताओं पर दृष्टिपात करने से इसका वास्तविक स्वरूप ज्ञात हो जाता है। अतः नयी कविता की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं -

1. आधुनिक भाव बोध - आधुनिक भाव बोध नयी कविता की प्रधान विशेषता है। नयी कविता में आधुनिक जीवन की समसामयिक घटनाओं का चित्रण बहुत ही साफगोई के साथ हुआ है। यही कारण है कि जीवन की जटिलता के साथ आधुनिक नयी कविता में भाव बोध की भी जटिलता आ गयी है जो पुरानी पीढ़ी के लोगों को रास नहीं आती।

2. वैयक्तिकता और सामाजिकता का सामंजस्य - नयी कविता का कवि पूर्णतः वैयक्तिक नहीं है, बल्कि वह वैयक्तिकता एवं सामाजिकता में संबंध बनाये रखता है। उसकी दृष्टि में समाज परिधि है और व्यक्ति केन्द्र। वह व्यक्ति चेतना को अभिव्यंजित करते हुए भी समाज से अलग नहीं रहता। यही कारण है कि नयी कविता के कवि का अहं भी समाज को एक नयी दिशा देता है। उसके अहं से समाज को खतरा नहीं है।

3. प्रतीकात्मक और खंडित बिम्ब योजना.- नयी कविता का कवि पुराने रूढ़ प्रतीकों के स्थान पर नवीन और अप्रयुक्त प्रतीकों का प्रयोग अधिक करता है। और यदि पुराने प्रतीकों का प्रयोग करता भी है, तो उनमें संदर्भ और नया अर्थ भर देता है। डॉ. शम्भु नाथ सिंह नई कविता को अर्थ प्रधान नहीं बिम्ब प्रधान मानते हैं। और इसी कारण नई कविता में कहीं-कहीं दुरूहता आ गयी है।

4. विषय की अपेक्षा वस्तु की प्रधानता - नयी कविता के कवि पुराने से पुराने विषय को भी नयी वस्तु से भर देते हैं। उनके अनुसार वस्तु संप्रेष्य होती है, विषय नहीं। उदाहरणार्थ, धर्मवीर भारती के 'अंधायुग' का विषय पुराना है, परन्तु उसमें वस्तु नवीन है। वस्तुस्थिति की नवीनता के कारण ही ये कवि नवीन प्रतीकों एवं अभिव्यक्ति की नवीन शैलियों का सहारा लेते हैं। जिस युग के 'अंधेपन' को दूर करने के लिए महाभारत रचा गया, युद्धोपरान्त वह युग अभी भी वर्तमान है। इसे प्रस्तुत करते हैं नयी वस्तु बनाकर धर्मवीर भारती-

युद्धोपरान्त
यह अन्धायुग अवतरित हुआ
जिसमें स्थितियाँ, मनोवृत्तियाँ, आत्माएँ सब विकृत हैं।

5. अनुभूतियों की अद्वितीयता और प्रामाणिकता - नए कवियों की अनुभूतियाँ पुरानी परिपाटी की न होकर नवीन एवं असाधारण हैं। उनकी अनुभूतियाँ सर्वथा अछूती एवं मौलिक हैं। इन कवियों का दावा है कि चेतना की जिस गहराई तक उनकी अनुभूतियाँ प्रविष्ट करती हैं उस गहराई तक कोई दूसरा नहीं कर सकता। डॉ. गुप्त की धारणा है कि आज का साहित्य अनुभूति से एकनिष्ठ होकर भी उद्देश्य और दृष्टिकोण में अधिकाधिक सामाजिक होता जा रहा है।

6. भाषा-शैली - नयी कविता की भाषा अत्यधिक सरल एवं बोधगम्य है। परन्तु वह अपनी सरल भाषा में भी गहरा अर्थ भर देती है। वस्तुतः नयी कविता की भाषा यथार्थ जीवन से पूर्णतः घुलमिल कर चलने वाली भाषा है।

नयी कविता की शैली गद्यात्मक है। डॉ. शम्भुनाथ सिंह ने गद्यात्मकता के कारणों पर अपना विचार अभिव्यक्त करते हुए लिखा है - "आधुनिक युग का जीवन वैज्ञानिक और बौद्धिक होने के कारण अत्यन्त जटिल हो गया है, उसमें भावुकता नहीं रह गयी है। इस कारण आज का युग-जीवन गद्यात्मक हो गया है। फलतः नई कविता में पद्य की लय की जगह गद्य की लय ने ले ली है।"

मुक्त छन्द होते हुए भी नयी कविता में कहीं-कहीं अर्थ-लय के साथ-साथ नाद लय भी वर्तमान है। नयी कविता के अनेक कवि गजल, रुबाई, शेर आदि लिखकर लयात्मकता के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त "इस काव्य-प्रवृत्ति तथा काव्य विकास में कोरी भावुकता का ह्रास तथा बौद्धिकता का विकास, अलौकिकता का ह्रास तथा लौकिकता का विकास, व्यष्टि तथा समष्टि के संश्लेषण का प्रयास नये सामाजिक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति, जीवन के प्रति आस्था तथा यथार्थ के प्रति आग्रह, रूप एवं विरूप दोनों की अभिव्यक्ति तथा व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण आदि इसकी वस्तुगत विशेषताएँ हैं। इसके शिल्प पक्ष में प्रतीकवाद, बिम्बवाद, रूपवाद, मुक्तछन्द की गरिमा, अर्थ की लय आदि विशेषताएँ इसके वस्तु पक्ष से प्रभावित हैं।"

इस प्रकार यह काव्य-प्रवृत्ति मानव-जीवन के हरेक पहलुओं से तादात्म्य रखते हुए प्रकृति को विभिन्न आयामों में परखते हुए एवं सर्वथा अछूते संदर्भों पर अपना विचार प्रस्तुत करते हुए आगे बढ़ी है, इसीलिए इसका काव्य फलक विविधात्मक एवं विस्तृत है।

प्रश्न 81. प्रयोगवाद और नयी कविता में अन्तर स्पष्ट करें।

उत्तर - नयी कविता एवं प्रयोगवाद में निम्नलिखित मूलभूत अन्तर है -

1. प्रयोगवाद की कालावधि सन् 1943 से 1950 ई. तक मानी जाती है जबकि नयी कविता की कालावधि सन् 1950 से सन् 1960 ई. तक मानी जाती है।

2. प्रयोगवादी कविता ने परंपरा से विद्रोह के रूप में प्रयोग तथा अन्वेषण का मार्ग स्वीकार किया था, पर नयी कविता का आन्दोलन किसी परम्परा के विद्रोह स्वरूप नहीं हुआ था। नयी कविता स्वाभाविक गति से आगे बढ़ रही थी जबकि प्रयोगवादी कविता प्रगतिवाद की प्रतिक्रियास्वरूप पनपी थी।

3. नयी कविता में आस्था के स्वर मुखरित हैं, परन्तु प्रगतिवादी कविता में अपने संघर्ष के प्रति आस्था बहुत कम दिखाई पड़ती है।

4. प्रयोगवाद और नयी कविता में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि प्रयोगवाद द्वन्द्व और प्रतिक्रिया की कविता है जबकि नई कविता संश्लेषण और सामंजस्य की कविता है।

5. अज्ञेय के शब्दों में लोकगीतों या लोकधुनों की ओर झुकाव नयी कविता की महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है परन्तु प्रयोगवादी कविता में यह प्रवृत्ति अंशतः है।

6. प्रयोगवादी कविता में वैयक्तिकता के स्वर तीव्र हैं परन्तु नयी कविता वैयक्तिकता और सामाजिकता में सामंजस्य स्थापित करती है। नई कविता का अहं भाव भी समाजोन्मुखी है परन्तु प्रयोगवादी कविता का अहं भाव आत्म केन्द्रित है।

7. नयी कविता के कवि का झुकाव विभिन्न वादों से परे अपनी रचना धर्मिता एवं युग चेतना की ओर है, परन्तु प्रयोगवादी कवियों का झुकाव साहित्य एवं सामाजिक मान्यताओं सम्बन्धी नये प्रयोगों की ओर है।

8. नयी कविता आधुनिकता बोध की संवाहिका रही है। वह समय के साथ बदलते हरेक आधुनिक मूल्यों को अपनाते हुए चलती है। उसे समसामयिकता का ख्याल अधिक रहता है इसलिए उसका फलक प्रयोगवाद से अधिक हो जाता है।

9. नयी कविता को प्रयोगवाद की अगली कड़ी या उसका अधिक सुलझा हुआ रूप कह सकते हैं।

इस प्रकार प्रयोगवाद और नयी कविता में यही प्रमुख अन्तर है।

प्रश्न 82. नई कविता के गुण दोषों की विवेचना करें।

अथवा

प्रश्न 83. नई कविता की उपलब्धियाँ एवं उसकी दुबर्लताओं का मूल्यांकन करें।

उत्तर - प्रयोगवाद के पर्यवसान के बाद हिन्दी साहित्य के रंगमंच पर नई कविता का आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। प्रयोगवाद की अतिशय प्रयोगमूलक प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप प्रयोगवादी कवियों की ही अंतश्चेतना स्वच्छन्दतामूलक रचना प्रवृत्ति के लिए कुलबुलाने लगी थी। नयी कविता के कवि केवल युवा कवि ही नहीं थे बल्कि छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के कवि भी अपने 'वाद' के घेरे को तोड़कर नयी कविता की 'वाद' रहित प्रवृत्ति की ओर उन्मुख हो रचना के बहुमुखी एवं स्वतन्त्र आयाम को स्वीकार करने लगे थे।

इस प्रकार नयी कविता ने सन् 1930 से लेकर 1950 ई. तक के सभी नये पुराने खेमे के कवियों को मिलाकर अपना फलक काफी विस्तृत कर लिया एवं वह किसी एक विचार एवं वाद की संवाहिका न बनकर जीवन के हरेक शुभ-अशुभ विचारों, घात-प्रतिघातों की संवाहिका बन गयी।

अतः नई कविता दो रूपों में हमारे सामने आयी। उसका शुभ पक्ष भी उभरकर हमारे सामने आया तो अशुभ पक्ष भी। उसमें जहाँ अभिव्यक्ति की

ईमानदारी रही वहाँ अनुकरण करने की प्रवृत्ति भी। अतः साहित्य के अन्य 'वादों' या 'विधाओं' की तरह नई कविता की जहाँ महान् उपलब्धियाँ रही हैं, वहाँ कुछ दुर्बलताएँ भी दृष्टिगोचर हुई हैं, जहाँ इसमें गुणों का समावेश हुआ है वहाँ अवगुणों का भी।

संक्षेप में नई कविता की निम्नलिखित उपलब्धियाँ एवं दुर्बलताएँ रही हैं-

उपलब्धियाँ - (1) काव्य के विषयक्षेत्र और काव्यवस्तु का विस्तार - नई कविता की विषयवस्तु काफी विस्तृत है। नई कविता में बर्गसां के चेतनावाद, विलियम जेम्स के चेतना प्रवाह, आइन्सटाइन के सापेक्षवाद, मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का एक साथ समावेश है। इसकी काव्यवस्तु विभिन्न नूतन पुरातन विचारों एवं काव्यगत अनुभूतियों को लेकर आगे बढ़ती है फलस्वरूप काव्यवस्तु का विस्तार होना स्वाभाविक ही है।

(2) व्यापक गतिशील सौन्दर्य दृष्टि - नयी कविता में सौन्दर्य के प्रति गतिशील दृष्टि अपनायी गयी है। वह सौन्दर्य के बदलते हुए रूप का चित्रण अपने काव्य में करता है। नयी कविता का कवि सौन्दर्य की गतिशीलता के कारण असुन्दर को भी सुन्दर देखता है। वह यथार्थ को ही सुन्दर मानता है।

(3) आधुनिकता की चेतना - नई कविता में आधुनिकता का भावबोध है। नयी कविता आधुनिकता के साथ प्रवहमान है। इसीलिए जिन्हें आधुनिकता का बोध नहीं है उन्हें नई कविता जटिल लगती है।

(4) घटित होते हुए के प्रति सजगता - नई कविता की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि घटित होते हुए के प्रति सजगता है। यही कारण है कि यह कविता हरेक समसामयिक घटनाओं के प्रति सजगता बरतती हुई उसका चित्रण करती है।

(5) वस्तु व्यंजना पर नये प्रकृति-चित्रण - नई कविता की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि प्रकृति चित्रण के नयापन में भी रही है। प्रकृति की हरेक गतिविधियों, वस्तुपरक योजना का समावेश नई कविता की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

(6) मार्मिक व्यंग्य - व्यंग्य नयी कविता की अभिव्यक्ति का अनिवार्य साधन एवं महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। नयी कविता की व्यंग्य शैली जितनी प्रखर है उतनी शायद पहले नहीं रही। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना दुनिया की कुटिलता एवं कठोरता पर तीक्ष्ण व्यंग्य कसते हुए कहते हैं -

ओछी नहीं है दुनिया
मैं फिर कहता हूँ

महज उसका
सौन्दर्य-बोध बढ़ गया है।

(7) लोक काव्य की सरसता - नयी कविता में लोक बोली, भाषा एवं गीत के अधिक शब्दों का समावेश होने से उसकी सरसता बढ़ गयी है। यही कारण है कि उसमें पद लालित्य एवं प्रसंगानुकूल शब्द योजना सटीक पायी जाती है।

(8) नवीन वस्तु व्यंजना - नवीन वस्तु व्यंजना का समावेश नयी कविता की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों में से एक है। नई कविता में पुराने से पुराने विषय में भी नये दृष्टिकोण से नई वस्तु रखी गयी हैं। उदाहरण स्वरूप धर्मवीर भारती के 'अंधायुग' का विषय पुराना है परन्तु उसकी वस्तु नये संदर्भों में रखी गयी है।

(9) विभिन्न उपमानों-प्रतिमानों का प्रयोग - नयी कविता में उन समस्त प्रतिमानों के प्रति विद्रोह है जो व्यक्ति की स्वतंत्र सत्ता और उसके व्यक्तित्व की स्वाभाविक अभिव्यक्ति में बाधा डालते हैं। अतः नयी कविता में नवीन उपमानों एवं प्रतीकों का प्रयोग मिलता है।

(10) पूर्ण क्रियाशील बिम्ब - क्रियाशील बिम्ब विधान नयी कविता की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। नये कवियों ने प्रकृति विज्ञान, मनोविज्ञान, इतिहास, लोकसाहित्य आदि से बिम्ब ग्रहण कर अपने काव्य को प्रभावमय बनाया है। केदार नाथ सिंह का एक बिम्ब विधान द्रष्टव्य है -

वो चेहरे पर उड़ते भावों की शाम,
वो नस-नस में बढ़ते तनावों की शाम,
वो कैफे के टेबिल, वो व्यालों की शाम
वो जेबों पर सिकुड़न के तालों की शाम।

उपर्युक्त उपलब्धियों के अतिरिक्त शब्दों को नये अर्थ संस्कार देकर भाषा की व्यंजना शक्ति का विकास तथा मुक्त छन्द का प्रयोग आदि नयी कविता की मुख्य उपलब्धियाँ रही हैं।

दुर्बलताएँ या दोष - नयी कविता की जहाँ महत्त्वपूर्ण एवं व्यापक उपलब्धियाँ रही हैं वहीं इसकी कुछ दुर्बलताएँ भी रही हैं। ये दुर्बलताएँ निम्नलिखित हैं -

(1) रागात्मकता एवं साधारणीकरण की उपेक्षा।

(2) अतिशय बौद्धिकता।

ईमानदारी रही वहाँ अनुकरण करने की प्रवृत्ति भी। अतः साहित्य के अन्य 'वादों' या 'विधाओं' की तरह नई कविता की जहाँ महान् उपलब्धियाँ रही हैं, वहाँ कुछ दुर्बलताएँ भी दृष्टिगोचर हुई हैं, जहाँ इसमें गुणों का समावेश हुआ है वहाँ अवगुणों का भी।

संक्षेप में नई कविता की निम्नलिखित उपलब्धियाँ एवं दुर्बलताएँ रही हैं-

उपलब्धियाँ - (1) काव्य के विषयक्षेत्र और काव्यवस्तु का विस्तार - नई कविता की विषयवस्तु काफी विस्तृत है। नई कविता में बर्गसां के चेतनावाद, विलियम जेम्स के चेतना प्रवाह, आइन्सटाइन के सापेक्षवाद, मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का एक साथ समावेश है। इसकी काव्यवस्तु विभिन्न नूतन पुरातन विचारों एवं काव्यगत अनुभूतियों को लेकर आगे बढ़ती है फलस्वरूप काव्यवस्तु का विस्तार होना स्वाभाविक ही है।

(2) व्यापक गतिशील सौन्दर्य दृष्टि - नयी कविता में सौन्दर्य के प्रति गतिशील दृष्टि अपनायी गयी है। वह सौन्दर्य के बदलते हुए रूप का चित्रण अपने काव्य में करता है। नयी कविता का कवि सौन्दर्य की गतिशीलता के कारण असुन्दर को भी सुन्दर देखता है। वह यथार्थ को ही सुन्दर मानता है।

(3) आधुनिकता की चेतना - नई कविता में आधुनिकता का भावबोध है। नयी कविता आधुनिकता के साथ प्रवहमान है। इसीलिए जिन्हें आधुनिकता का बोध नहीं है उन्हें नई कविता जटिल लगती है।

(4) घटित होते हुए के प्रति सजगता - नई कविता की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि घटित होते हुए के प्रति सजगता है। यही कारण है कि यह कविता हरेक समसामयिक घटनाओं के प्रति सजगता बरतती हुई उसका चित्रण करती है।

(5) वस्तु व्यंजना पर नये प्रकृति-चित्रण - नई कविता की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि प्रकृति चित्रण के नयापन में भी रही है। प्रकृति की हरेक गतिविधियों, वस्तुपरक योजना का समावेश नई कविता की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

(6) मार्मिक व्यंग्य - व्यंग्य नयी कविता की अभिव्यक्ति का अनिवार्य साधन एवं महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। नयी कविता की व्यंग्य शैली जितनी प्रखर है उतनी शायद पहले नहीं रही। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना दुनिया की कुटिलता एवं कठोरता पर तीक्ष्ण व्यंग्य कसते हुए कहते हैं -

ओछी नहीं है दुनिया
मैं फिर कहता हूँ

महज उसका

सौन्दर्य बोध बढ़ गया है।

(7) लोक काव्य की सरसता - नयी कविता में लोक बोली, भाषा एवं गीत के अधिक शब्दों का समावेश होने से उसकी सरसता बढ़ गयी है। यही कारण है कि उसमें पद लालित्य एवं प्रसंगानुकूल शब्द योजना सटीक पायी जाती है।

(8) नवीन वस्तु व्यंजना - नवीन वस्तु व्यंजना का समावेश नयी कविता की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों में से एक है। नई कविता में पुराने से पुराने विषय में भी नये दृष्टिकोण से नई वस्तु रखी गयी है। उदाहरण स्वरूप धर्मवीर भारती के 'अंधायुग' का विषय पुराना है परन्तु उसकी वस्तु नये संदर्भों में रखी गयी है।

(9) विभिन्न उपमानों-प्रतिमानों का प्रयोग - नयी कविता में उन समस्त प्रतिमानों के प्रति विद्रोह है जो व्यक्ति की स्वतंत्र सत्ता और उसके व्यक्तित्व की स्वाभाविक अभिव्यक्ति में बाधा डालते हैं। अतः नयी कविता में नवीन उपमानों एवं प्रतीकों का प्रयोग मिलता है।

(10) पूर्ण क्रियाशील बिम्ब - क्रियाशील बिम्ब विधान नयी कविता की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। नये कवियों ने प्रकृति विज्ञान, मनोविज्ञान, इतिहास, लोकसाहित्य आदि से बिम्ब ग्रहण कर अपने काव्य को प्रभावमय बनाया है। केदार नाथ सिंह का एक बिम्ब विधान द्रष्टव्य है -

वो चेहरे पर उड़ते भावों की शाम,
वो नस-नस में बढ़ते तनावों की शाम,
वो कैफे के टेबिल, वो व्यालों की शाम
वो जेबों पर सिकुड़न के तालों की शाम।

उपर्युक्त उपलब्धियों के अतिरिक्त शब्दों को नये अर्थ संस्कार देकर भाषा की व्यंजना शक्ति का विकास तथा मुक्त छन्द का प्रयोग आदि नयी कविता की मुख्य उपलब्धियाँ रही हैं।

दुर्बलताएँ या दोष - नयी कविता की जहाँ महत्त्वपूर्ण एवं व्यापक उपलब्धियाँ रही हैं वहीं इसकी कुछ दुर्बलताएँ भी रही हैं। ये दुर्बलताएँ निम्नलिखित हैं -

(1) रागात्मकता एवं साधारणीकरण की उपेक्षा।

(2) अतिशय बौद्धिकता।

(3) अनिश्चित जीवन दृष्टि।

(4) सांस्कृतिक संपत्ति और विराट कल्पना का अभाव।

(5) अपनी ही मनःस्थिति को युग सत्य घोषित करना।

(6) सौन्दर्य असौन्दर्य की भेदक-रेखा मिटा देना।

(7) साम्प्रदायिकता की प्रवृत्ति।

(8) अवचेतन और क्षणवाद पर आवश्यकता से अधिक बल।

(9) क्षणिक अनुभूति में अधिकाधिक आयाम अन्वेषित करने का आग्रह।

(10) बिम्ब विधान को ही साध्य मान लेना।

(11) अस्पष्ट दुर्ग्राह्य प्रतीक विधान एवं अनुपयुक्त विचित्र उपमान।

(12) नवीनता का अत्यधिक मोह आदि।

डॉ. प्रेमप्रकाश गौतम ने 'नई कविता : पुनर्विचार' के अंतर्गत नयी कविता के गुण एवं दोषों की वृहद् सूची तैयार की है जो नयी कविता के स्वरूप को यथार्थ रूप में प्रकट करती है।

साठोत्तरी कविता

प्रश्न 84. हिन्दी साहित्य की साठोत्तरी कविता की रूपरेखा प्रस्तुत कीजिए।

अथवा

प्रश्न 85. साठोत्तरी कविता पर एक सारगर्भित निबन्ध लिखिए।

उत्तर - साधारणतः प्रयोगवाद, नयी कविता और साठोत्तरी कविता में बाह्य तौर पर अन्तर बहुत कम दिखाई पड़ते हैं, अतः बाहरी तौर पर इनकी पहचान मुश्किल हो जाती है। इन तीनों कविता-प्रवृत्तियों में विभाजक रेखा खींचे जाने की कठिनाई का एक और महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि ये काव्य-प्रवृत्तियाँ एक दूसरे के करीब ही पनपीं और इन प्रवृत्तियों के जन्मदाता एक-दूसरे की प्रवृत्ति से जुड़े रहे। फिर भी आंतरिक एवं अभिव्यक्तिगत शैली के आधार पर ये तीनों काव्य-प्रवृत्तियाँ भिन्न रही हैं एवं साहित्यकारों के बदलते हुए विचार संदर्भों की संवाहिका रही हैं। अतः आज विभिन्न आलोचनाओं के द्वारा इन काव्य-प्रवृत्तियों में स्पष्ट अन्तर परिलक्षित हो गये हैं।

सन् 1960 के बाद हिन्दी साहित्य की कविता के क्षेत्र में अनेक आंदोलन उठ खड़े हुए। इन कविता-आंदोलनों के चलते साहित्य में अनेक नाम सामने आये जिनमें अकविता, भूखी-पीढ़ी और बीट कविता, श्मशानी पीढ़ी, ताजी कविता, अस्वीकृत कविता, युयुत्सावादी कविता, साम्प्रतिक कविता, सहज कविता, नूतन कविता आदि नाम प्रमुख हैं। इन विभिन्न नामकरणों के पीछे नामकरणकर्ताओं की साहित्यिक प्रसिद्धि की चाह रही, जो खुद को अज्ञेय जैसा साहित्य में अलग नाम स्थापित कर इतिहास-पुरुष बनने के आकांक्षी रहे। परन्तु ये साहित्यिक आन्दोलन स्थायी प्रभाव न जमा सके क्योंकि इनके पास समाज को देने के नाम पर कुंठा, संत्रास, अनास्था, उच्छृंखलता, विद्रोह आदि के अतिरिक्त और कुछ न था। नयी कविता के दौरान जिन विकृतियों की वर्जना हो चुकी थी वह सन् 1960 की कविताओं में पुनः स्थापित होने लगी।

सन् 1960 में कविता के क्षेत्र में जो विभिन्न नाम एवं आन्दोलन उठ खड़े हुए उनमें 'साठोत्तरी कविता' नामक एक आन्दोलन भी उभरकर सामने आया। यह आन्दोलन सन् 1960 के बाद की कविताओं का कालक्रम ज्ञापित करने वालों से नहीं, बल्कि एक विशेष काव्य धारा के रूप में सामने आया।

साठोत्तरी कविता के उद्‌घोषक सलिल गुप्त हैं। साठोत्तरी कविता सन् 1960 के बाद आने वाले विभिन्न नामों से अलग अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती

है। यद्यपि साठोत्तरी कविता में भी अनास्था, आक्रोश, असंतोष, विद्रोह आदि के स्वर परिलक्षित हैं, परन्तु वे सर्वथा निरर्थक नहीं हैं। उसका विद्रोह समाजोपयोगी है।

साठोत्तरी कविता सामान्यतः दो धाराओं में विभाजित हो प्रवाहमान रही है। एक पूर्णतः व्यक्तिवादी एवं दूसरी समाजोन्मुख व्यक्तिवादी विचारधारा। इनमें कवियों की घोर व्यक्तिवादी दृष्टि उतनी स्थिरता नहीं कायम कर सकी जितनी समाजोन्मुख व्यक्तिवादी दृष्टि स्थिरता प्राप्त कर चुकी है। अर्थात् साठोत्तरी कविता के आठवें, नवें दशक का कवि व्यक्तिवादिता में न सिमटकर अब अधिकांशतः समाजोन्मुखी हो गया है।

छठे दशक में कविता अधिक व्यक्तिनिष्ठ रही। इसका कारण यह था कि वह विभिन्न पतनशील प्रवृत्तियों को अपना जीवन दर्शन मानने लगी थी। इसके परिणामस्वरूप उसमें जीवन की निरर्थकता, क्षण का महत्त्व और विराट की अस्वीकृति, अहं का विस्तार, यौन भावना के नग्न रूप आदि विकृतियों के दर्शन होने लगे थे।

परन्तु सातवें दशक में साठोत्तरी कविता का वास्तविक समाजोन्मुखी रूप उभर कर सामने आया। अब वह अपनी असली पहचान बनाने लगी। वह विभिन्न मतवादों, राजनैतिक दुराग्रहों एवं सम्प्रदायों की दीवार को तोड़ती हुई, मानव जीवन से सम्पर्क जोड़ने लगी थी। सातवें दशक में भवानी प्रसाद मिश्र, सर्वेश्वरदयाल, शमशेर बहादुर आदि नयी कविता पीढ़ी के कवि साठोत्तरी कविता में अपने स्वस्थ एवं अधिक सुलझे हुए विचारों की अभिव्यक्ति करने लगे थे। धूमिल, राजकमल चौधरी, श्रीकांत वर्मा, अशोक वाजपेयी, दुष्यन्तकुमार, श्रीराम वर्मा, कैलाश वाजपेयी, मणिमधुकर आदि सातवें दशक के प्रमुख रचनाकारों में से हैं।

आठवें दशक के प्रारम्भ में साठोत्तरी कविता पूर्ण विकास पर आने लगी थी। इस दशक में नये तथा पुराने सभी कवि विभिन्न पूर्वाग्रहों, दुराग्रहों एवं मतवादों से मुक्त हो काव्य सृजन करने लगे। इस दशक में खास तौर से चार प्रकार की कविताएँ लिखी गयीं। डॉ. त्रिभुवन सिंह के अनुसार - "इनमें पहला वर्ग उन कवियों का था जो प्रयोगवाद एवं नयी कविता के दौर से गुजर कर आये थे। दूसरे ऐसे कवि थे जो आंदोलनों के माध्यम से उभरे थे। तीसरी श्रेणी उन कवियों की थी जो जनाभिमुख होकर कविता की सामाजिक जिम्मेदारी को समझते हुए कविता कर रहे थे। ये कवि प्रगतिवादी चेतना को आधार बनाकर कविता के जनवादी पक्ष को उभारने की कोशिश कर रहे थे। चौथे ऐसे कवि थे

जो नये किन्तु किसी तरह की आरोपित वैचारिकता और आन्दोलनों से दूर रहकर सर्वथा स्वतंत्र भाव से जीवन की सार्थक अभिव्यक्ति में लगे हुए थे।"

इस प्रकार आठवें दशक में कवि विभिन्न 'वादों' के घेरे से प्रायः मुक्त हो चुका था। अब उसका एकमात्र उद्देश्य रह गया था जीवन के यथार्थ का चित्रण करना। चाहे वह यथार्थ निम्नवर्ग से सम्बन्धित रहा हो या उच्च वर्ग से, ग्रामीण जीवन से संबंधित हो या शहरी जीवन से, राजनीति से सम्बन्धित हो या साहित्य से। अब वह अपने आप को किसी भी समस्या के यथार्थ चित्रण से अलग नहीं रख सकता था। अतः आठवें दशक का कवि अब सीधे आदमी की जिन्दगी से जुड़कर चल रहा था। इन कवियों के साथ मलयज, ऋतुराज, रणजीत, विनोद कुमार शुक्ल, राजीव सक्सेना, विष्णु खरे, उदय प्रकाश, ज्ञानेन्द्रपति आदि सैकड़ों नाम जुड़े हुए हैं।

नवें दशक के दौरान कविता की भाव भूमि काफी विस्तृत हुई है और होती जा रही है। अब 'वादों' की सीमाएँ बिल्कुल समाप्त हो गयी हैं। आज का कवि 'वादों' के घेरे से तो अलग हो चुका है परन्तु समस्याओं के घेरे में वह अवश्य कैद है, जिन्हें तोड़ने के लिए वह निरन्तर अपनी लेखनी चला रहा है। आज हमारे समाज के सामने कश्मीर समस्या, पंजाब समस्या, असम समस्या जैसी राजनीतिक समस्याएँ तो हैं ही, दहेज समस्या, प्रदूषण की समस्या, बेकारी की समस्या, विभिन्न बीमारियों के प्रकोप से बचने की समस्या, महँगाई की समस्या और साम्प्रदायिकता जैसी समस्याएँ भी हमारे सामने प्रश्नचिह्न बनकर खड़ी हैं। नवें दशक का कवि इन सारी समसामयिक समस्याओं पर अपनी लेखनी चलाकर उसके निदान हेतु स्वस्थ विचार पैदा कर रहा है। एक ओर इन सारी समस्याओं से जहाँ आम आदमी जूझ रहा है वहाँ साठोत्तरी कवि भी उसके साथ है। प्रदूषण के चलते वायुमण्डल में होती हुई आक्सीजन की निरन्तर कमी की समस्या पर कवि रत्नेश कुमार 'आक्सीजन के दुश्मनों के नाम' अपनी कविता में कार्बन गैस फैलाने वालों पर अपना आक्रोश व्यक्त करते हैं।

इस प्रकार साठोत्तरी कविता का फलक अब काफी विस्तृत हो गया है, एवं कविता आम आदमी की जिन्दगी से जुड़कर चल रही है।

साठोत्तरी कविता की उपलब्धियाँ - साठोत्तरी कविता की निम्नलिखित उपलब्धियाँ रही हैं -

1. समकालीन जीवन के हरेक पहलुओं का उद्घाटन।

2. व्यक्तिपरक समाजोन्मुखी प्रवृत्ति।
3. डॉ. त्रिभुवन सिंह के शब्दों में लम्बी कविताओं का लिखा जाना भी इसकी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।
4. पुराने प्रतिमानों, निरर्थक होते मूल्यों और मरती हुई संस्कृति पर नूतन निर्माण के स्वर।
5. भाषा शैली सुबोध एवं सरल, लोकभाषा के अत्यधिक निकट।
6. बिम्ब विधान की जगह कथ्य को सहज संप्रेषणीय बनाने पर जोर।
7. गीतात्मकता एवं नाटकीय शैली का प्रयोग।
8. विभिन्न मतवादों, सम्प्रदायों, राजनैतिक एवं वर्गीय दुराग्रहों से मुक्त।

इस प्रकार साठोत्तरी कविता अभिव्यक्ति की विभिन्न दिशाओं को अपनाती हुई सतत प्रवाहमान है। यद्यपि साठोत्तरी कविता को कई दुर्गम मार्गों एवं पड़ावों से होकर गुजरना पड़ा है, फिर भी अपने स्वतन्त्र एवं स्वस्थ कथ्य एवं शिल्प के आधार पर यह निरन्तर अपने मार्ग को प्रशस्त करती हुई विकसित हो रही है। अपने उज्ज्वलमय भविष्य की ओर अग्रसर हो रही है। यही कारण है कि इसका शुभ पक्ष निरन्तर विकसित होता हुआ सामने आ रहा है।

प्रश्न 86. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखें - अकविता, सहज कविता और नवगीत।

उत्तर - अकविता - सन् 1960 के बाद कविता का जो आन्दोलन उठ खड़ा हुआ उसमें विभिन्न नाम सामने आये। इन्हीं कविता आन्दोलनों में 'अकविता' भी एक विशेष कविता-प्रवृत्ति आन्दोलन का नाम है। इस आन्दोलन के प्रमुख प्रवक्ता श्याम परमार माने जाते हैं। सन् 1963 ई. में जगदीश चतुर्वेदी के संकलन 'प्रारम्भ' से ही अकविता की पृष्ठभूमि तैयार होने लगी थी।

डॉ. श्याम परमार अकविता को आंदोलन न मानकर इसे समसामयिक जीवन संदर्भों एवं नवीन मूल्यों के उद्घाटन मानते हैं। 'अकविता' के समर्थक कवियों में जगदीश चतुर्वेदी, मुद्राराक्षस, रवीन्द्र त्यागी, अतुल भारद्वाज, गंगा प्रसाद विमल, गिरिजा कुमार माथुर, तारा तिब्कू, प्रभाकर माचवे, भारत भूषण अग्रवाल, राजीव सक्सेना आदि प्रमुख हैं।

इन कवियों ने नयी कविता के प्रतिक्रियास्वरूप परम्परा का पूर्ण बहिष्कार करते हुए 'अकविता' की एक नवीन काव्य-धारा का प्रवर्तन किया। परन्तु यह काव्य धारा बिल्कुल परम्परा से कटी कुंठा, संत्रास, अनास्था एवं कामुकता को

ही बढ़ावा देने लगी थी। नारी-पुरुष के सम्बन्धों में भी इनकी मान्यताएँ भिन्न रही हैं। ये अप्राकृतिक मैथुन को तो प्रश्रय देते हैं परन्तु नारी के अंकशायिनी रूप को नहीं मानते। कुल मिलाकर इन कवियों में एक अनावश्यक स्वतंत्रता की माँग दिखाई पड़ती है जो समाज सापेक्ष नहीं कही जा सकती। साहित्य के इतिहास में 'अकविता' आन्दोलन को अपनी इन्हीं कमजोरियों के कारण स्थायित्व प्राप्त नहीं हो सका। मणिकामोहिनी द्वारा रचित एक कविता में नारी-पुरुषों के वैवाहिक-सम्बन्ध-विषयक नयी मान्यता देखी जा सकती है -

> **सुबह होने से लेकर दिन डूबने तक/मैं इन्तजार करता हूँ**
> **रात का/जब हम दोनों एक ही कोने में सिमट कर/**
> **एक दूसरे को/कुत्तों की तरह चाटेंगे/विवाह के बाद**
> **जिन्दा रहने के लिए/जानवर बनना बहुत जरूरी है।**

सहज कविता - सहज कविता में अनुभूति की सहज संप्रेषणीयता का दावा किया गया था। इसमें कृत्रिमता, जटिल बिम्ब एवं प्रतीकों के विन्यास को अस्वीकृत किया गया।

सहज कविता के उद्घोषक के रूप में कवि रवीन्द्र भ्रमर का नाम लिया जाता है। इन्होंने मार्च सन् 1967 में सहज कविता का नारा बुलन्द किया। परन्तु यह कविता-प्रवृत्ति भी हिन्दी साहित्य में अपना प्रभुत्व न स्थापित कर सकी। कवि अजय कुमार का एक उदाहरण-

> **धूप तेज होती है/धूप तेज होती है/और छोटी**
> **सी झाड़ी में एक नन्हीं चिड़िया/गाने लगती है।**
> **टूट जाती है दोपहरी की तन्द्रा/याद हठी बच्चे**
> **सी/सूने दीवारों के साये पर/दरपन चमकाने**
> **लगती है।**

नवगीत - नयी कविता, नई कहानी आदि के समकालीन 'नवगीत' नामक आन्दोलन हिन्दी साहित्य में चल पड़ा। नवगीत के गीतकारों ने प्रतीक, अप्रस्तुत विधान, छन्द भाषा आदि के नूतन रूपों को अपनाया।

'नवगीत' की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें लोक चेतना जीवन्त होकर प्रकट हुई है। इन गीतों में लोकगीत के शब्द एवं लोक धुनों के तर्ज स्वाभाविक रूप से मिलते हैं। इन गीतकारों में नीरज, घनश्याम अस्थाना, सोम ठाकुर, भवानी प्रसाद मिश्र, रामावतार त्यागी, जगदीश गुप्त, वीरेन्द्र मिश्र, नरेन्द्र शर्मा आदि प्रमुख हैं।

नवगीत की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं -

1. अनुभूति की सच्चाई। 2. नवीन सौन्दर्य बोध, 3. लघु आकार, 4. नवीन बिम्ब-प्रतीक-उपमान योजना। 5. लोक जीवन से प्रेरित। 6. सहज संप्रेषणीयता।

विभिन्न कवि सम्मेलनों के माध्यम से नये-नये गीतकार हिन्दी साहित्य में अपना स्थान बनाते जा रहे हैं। हिन्दी गीति परंपरा का भविष्य उज्ज्वल है।

87. लघु उत्तरीय प्रश्न- आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल एवं आधुनिक काल।

प्रश्न 1. हिन्दी साहित्य के आदिकाल के विभिन्न नाम कौन-कौन हैं ?

उत्तर - हिन्दी साहित्य के आदिकाल के विभिन्न नाम इस प्रकार हैं - वीरगाथा काल, आरम्भिक काल, बीज वपन काल, सिद्ध सामन्त युग, चारण काल आदि।

प्रश्न 2. साधारणतः आदिकाल का प्रारम्भ कब से माना जाता है ?

उत्तर - आदिकाल का प्रारम्भ सामान्यतः संवत् 1050 (सन् 993 ई.) से माना जाता है।

प्रश्न 3. 'पृथ्वीराज रासो' ग्रन्थ के रचयिता का नाम लिखें।

उत्तर - 'पृथ्वीराज रासो' ग्रन्थ के रचयिता का नाम चन्दवरदायी है।

प्रश्न 4. हिन्दी साहित्य के इतिहास को सर्वप्रथम किसने लिखा था ?

उत्तर - हिन्दी साहित्य के इतिहास को सर्वप्रथम एक फ्रांसीसी विद्वान गार्सा-द-तासी ने लिखा था।

प्रश्न 5. हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'स्वर्णयुग' किस काल को कहा जाता है ?

उत्तर - भक्तिकाल को हिन्दी साहित्य का स्वर्णयुग कहा जाता है।

प्रश्न 6. भक्तिकाल को मुख्यतः किन-किन शाखाओं एवं उप-शाखाओं में विभाजित किया गया है ?

उत्तर - भक्तिकाल को मुख्यतः दो शाखाओं में विभाजित किया गया है - निर्गुण भक्ति एवं सगुण भक्ति शाखा। पुनः निर्गुण भक्ति शाखा को ज्ञानाश्रयी तथा प्रेमाश्रयी भक्ति शाखा में विभाजित किया गया है तथा सगुण भक्ति शाखा को रामभक्ति तथा कृष्णभक्ति शाखा में विभाजित किया गया है।

प्रश्न 7. ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रमुख कवियों का नाम लिखें।

उत्तर - ज्ञानाश्रयी भक्तिशाखा के प्रमुख कवि हैं - कबीरदास, रैदास,

गुरुनानक, दादूदयाल, सुन्दरदास, धर्मदास, सहजोबाई आदि।

प्रश्न 8. प्रेमाश्रयी शाखा के प्रमुख कवियों का नाम लिखें।

उत्तर - प्रेमाश्रयी शाखा के प्रमुख कवि हैं - जायसी, कुतुबन, मंझन आदि।

प्रश्न 9. रामभक्ति शाखा के प्रमुख कवियों का नाम लिखें।

उत्तर - रामभक्ति शाखा के प्रमुख कवि हैं - कविवर तुलसीदास, स्वामी अग्रदास, नाभादास जी, प्राणचन्द चौहान, हृदयराम आदि।

प्रश्न 10. कृष्णभक्ति शाखा के प्रमुख कवियों का नाम लिखें।

उत्तर - सूरदास, नंददास, कृष्णदास, परमानन्ददास, कुम्भन दास, चतुर्भुज दास, छीतस्वामी, गोविन्द स्वामी, हितहरिवंश, गदाधर भट्ट एवं मीराबाई।

प्रश्न 11. अष्टछाप के कवियों का नाम लिखें।

उत्तर - अष्टछाप के कवि हैं - सूरदास, नंददास, कृष्णदास, परमानंद दास, कुम्भन दास, चतुर्भुज दास, छीतस्वामी, गोविन्द स्वामी।

प्रश्न 12. अष्टछाप की प्रतिष्ठा किसने की थी ?

उत्तर - अष्टछाप की प्रतिष्ठा स्वामी बल्लभाचार्य के पुत्र गोस्वामी बिट्ठलनाथ ने की थी।

प्रश्न 13. पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक कौन थे ?

उत्तर - पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक स्वामी बल्लभाचार्य थे।

प्रश्न 14. पुष्टिमार्ग क्या है ?

उत्तर - भक्ति साहित्य में 'पुष्टि' शब्द का अर्थ है - सेवा। अतः पुष्टिमार्ग का अर्थ हुआ सेवामार्ग। अर्थात् सेवा के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण का कृपापात्र होना ही पुष्टिमार्गीय भक्तों का लक्ष्य रहा है। स्वामी बल्लभाचार्य ने कहा है - 'पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्यः' अर्थात् पुष्टिमार्ग भगवान् के अनुग्रह से ही साध्य है। श्री हरिराय जी के अनुसार - "जिस मार्ग में सर्व सिद्धियों का हेतु भगवान् का अनुग्रह ही है, जहाँ देह के अनेक सम्बन्ध ही साधन रूप बनकर भगवान् की इच्छा के बल पर फल रूप सम्बन्ध बनते हैं, जिस मार्ग में भगवत् विरहावस्था में भगवान् की लीला के अनुभव मात्र से संयोगावस्था का सुख अनुभूत होता है और जिस मार्ग में भावों में लौकिक विषय का त्याग है तथा उन भावों के सहित देहादि का भगवान् को समर्पण है, वह पुष्टिमार्ग कहलाता है।"

प्रश्न 15. भक्तिकाल की किन्हीं चार विशेषताओं को लिखें।

		'ट्रेवेलर' का 'शान्त पथिक'।
30.	आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी	'कुमार संभव सार', काव्य-मंजूषा, सुमन आदि।
31.	हरिऔध	प्रिय प्रवास, रुक्मिनी परिणय, चोखे चौपदे, चुभते चौपदे, पद्य प्रसून आदि।
32.	जगन्नाथदास 'रत्नाकर'	उद्धवशतक, साहित्य रत्नाकर।
33.	मैथिलीशरण गुप्त	भारत-भारती, जयद्रथ वध, यशोधरा, साकेत, पंचवटी, द्वापर आदि।
34.	माखनलाल चतुर्वेदी	हिमकिरीटनी, हिमतरंगिणी।
35.	रामनरेश त्रिपाठी	मिलन, पथिक, स्वप्न।
36.	श्यामनारायण पाण्डेय	हल्दीघाटी, जौहर।
37.	सियारामशरण गुप्त	आर्द्रा, विषाद, पाथेय आदि।
38.	सुभद्राकुमारी चौहान	झाँसी की रानी।
39.	जयशंकर प्रसाद	**काव्य-** चित्राधार, प्रेमपथिक, करुणालय, झरना, आँसू, लहर, कामायनी। **नाटक-** स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, अजातशत्रु, जनमेजय का नाग यज्ञ आदि। **कहानी संग्रह-** छाया, प्रतिध्वनि, इन्द्रजाल, आकाश दीप, आँधी। **उपन्यास-** कंकाल, तितली, इरावती।
40.	सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'	**उपन्यास-**अप्सरा, अलका, चतुरी चमार, सुकुल की बीवी, महाराणा प्रताप। **काव्य-** अनामिका, परिमल, गीतिका, तुलसीदास, अणिमा, नये पत्ते, राम की शक्ति पूजा, कुकुरमुत्ता।
41.	सुमित्रानंदन पंत	**काव्य-** वीणा, पल्लव, ग्रन्थि, गुंजन, युंगान्त, युगवाणी, ग्राम्या, चिदम्बरा, लोकायतन।
42.	महादेवी वर्मा	**काव्य-** निहार, रश्मि, नीरजा, यामा, सान्ध्यगीत, दीपशिखा आदि।
43.	हरिवंशराय 'बच्चन'	मधुशाला, मधुबाला, मधुकलश।

44.	भगवतीचरण वर्मा	मधुकण, प्रेमसंगीत, रंगों से मोह, चित्रलेखा आदि।
45.	रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'	मधुलिका, अपराजिता, किरण बेला, लाल चूनर।
46.	रामधारी सिंह 'दिनकर'	रेणुका, हुंकार, द्वन्द्वगीत, कुरुक्षेत्र, रश्मिरथी, उर्वशी, परशुराम की प्रतीक्षा आदि।
47.	नरेन्द्र शर्मा	शूल-फूल, कर्णफूल, द्रौपदी, प्रवासी के गीत आदि।
48.	अज्ञेय	**काव्य**- हरीघास पर क्षण भर, बावरा अहेरी, इन्द्र धनु रौंदे हुए, आँगन के पार द्वार। **उपन्यास**- शेखर : एक जीवनी, नदी के द्वीप, अपने अपने अजनबी। **कहानी संग्रह** - परम्परा, कोठरी की बात, शरणार्थी।
49.	नागार्जुन	**काव्य**- युगधारा, सतरंगे पंखों वाली, प्यासी पथराई आँखें आदि। **उपन्यास**-रतिनाथ की चाची, वरुण के बेटे, बाबा बटेशर नाथ।
50.	प्रेमचन्द	इनकी सभी कहानियाँ 'मानसरोवर' 8 भागों में संगृहीत हैं। **उपन्यास**-प्रेमा, सेवासदन, निर्मला, प्रेमाश्रम, गबन, रंगभूमि, कर्मभूमि, कायाकल्प, गोदान, मंगल सूत्र।
51.	जैनेन्द्र कुमार	**उपन्यास**- परख, सुनीता, त्यागपत्र, कल्याणी, सुखदा, विवर्त, व्यतीत आदि। **कहानी संग्रह**-फाँसी, वातायन, नीलम देश की राजकन्या, एकरात, पाजेब, जयसंधि इत्यादि।
52.	यशपाल	**कहानी संग्रह**- ज्ञानदान, चिनगारी, उत्तराधिकारी, अभिशप्त आदि।

		उपन्यास-दादा कामरेड, देशद्रोही, दिव्या, झूठा-सच।
53.	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	**निबन्ध**- चिंतामणि (दो भाग)। हिन्दी साहित्य का इतिहास।
		आलोचना-सूरदास, तुलसीदास, रस मीमांसा, त्रिवेणी आदि।
54.	हजारी प्रसाद द्विवेदी	**आलोचना**-सूर-साहित्य, हिन्दी साहित्य की भूमिका, कबीर, नाथ सम्प्रदाय, हिन्दी साहित्य का आदिकाल आदि।
		निबंध संग्रह-अशोक के फूल, विचार और वितर्क, कुटज आदि।
55.	वृन्दावन लाल वर्मा	**उपन्यास**-गढ़ कुण्डार, विराटा की पद्मिनी, झाँसी की रानी, मृगनयनी, अहिल्याबाई आदि।
		कहानी-हरसिंगार, कलाकार का दण्ड, शरणागत।
56.	शिवपूजन सहाय	**कहानी संग्रह**-विभूति।
		उपन्यास-देहाती दुनिया।
57.	नन्ददुलारे वाजपेयी	**आलोचना**-हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी, प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, महाकवि सूरदास, आधुनिक साहित्य।
58.	डॉ. नगेन्द्र	**आलोचना**-सुमित्रानन्दन पंत, साकेत : एक अध्ययन, देव और उनकी कविता, रीतिकाव्य की भूमिका, आधुनिक हिन्दी नाटक, काव्य-चिंतन, रस सिद्धान्त, काव्यशास्त्र की भूमिका आदि।
59.	फणीश्वरनाथ रेणु	**उपन्यास**-मैला आँचल, परती परिकथा, कितने चौराहे, जुलूस, दीर्घतपा।
60.	रांगेय राघव	**उपन्यास**-कब तक पुकारूँ, काका, विषाद-मठ।

61.	उपेन्द्रनाथ अश्क	**उपन्यास**-सितारों का खेल, गर्म राख, शहर में घूमता आइना, बाँधो न नाव इस ठाँव।
62.	अमृतलाल नागर	**उपन्यास**-महाकाल, सेठ बाँकेमल, बूँद और समुद्र, खंजन नयन, मानस का हंस, अमृत और विष, ये कोठेवालियाँ आदि।
63.	चतुरसेन शास्त्री	**उपन्यास**-गोली, वयं रक्षामः आदि।
64.	रामविलास शर्मा	**आलोचना**-निराला की साहित्य साधना, तुलसीदास आदि। **निबंध संग्रह**-विराम चिह्न।
65.	श्यामसुन्दर दास	साहित्यालोचन, हिन्दी भाषा और साहित्य, गोस्वामी तुलसीदास, हिन्दी के निर्माता आदि।
66.	बाबू गुलाब राय	हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास, काव्य के रूप आदि। **निबंध-संग्रह**-मेरी असफलताएँ, फिर निराश क्यों।
67.	लक्ष्मीनारायण मिश्र	**नाटक**-संन्यासी, राक्षस का मंदिर, मुक्ति का रहस्य, राजयोग, सिन्दूर की होली, वत्सराज, वितस्ता की लहरें आदि।
68.	रामवृक्ष बेनीपुरी	**नाटक**-आम्रपाली, सीता की माँ, नेत्रदान, सिंहल विजय आदि। **कहानी-संग्रह**- चिता के फूल, लालतारा, धनुष, झोपड़ी का रुदन।
69.	गजानन माधव मुक्तिबोध	**समीक्षा**-कामायनी : एक पुनर्विचार, भारतीय इतिहास और संस्कृति, नयी कविता का आत्म संघर्ष। **कविता संग्रह**-'तार सप्तक' (प्रथम) में संकलित रचनाएँ, चाँद का मुँह टेढ़ा है।
70.	मोहन राकेश	**उपन्यास**- अंधेरे बंद कमरे, न आनेवाला कल।

		कहानी संग्रह- इन्सान के खंडहर, जानवर और जानवर, एक और जिन्दगी, नये बादल आदि।
		नाटक- आषाढ़ का एक दिन, लहरों के राजहंस, आधे-अधूरे।
71.	धर्मवीर भारती	**उपन्यास**-सूरज का सातवाँ घोड़ा, गुनाहों का देवता आदि।
		कहानी संग्रह-बन्द गली का आखिरी मकान आदि।
		निबन्ध- कहानी-अकहानी, ठेले पर हिमालय आदि।
		काव्य-अंधायुग, कनुप्रिया, ठंडा लोहा आदि।
72.	गिरिजा कुमार माथुर	**काव्य-संग्रह**-मंजीर, नाश और निर्माण, धूप के धान, शिला पंख चमकीले, जो बँध न सका आदि।
73.	राजेन्द्र यादव	**कहानी**-जहाँ लक्ष्मी कैद है, अभिमन्यु की हत्या, बिरादरी बाहर, प्रतीक्षा, एक कटी हुई कहानी, सिलसिला, टूटना और ढोल आदि।
74.	कमलेश्वर	**कहानी संग्रह**-राजा निरबंसिया, कस्बे का आदमी, खोई हुई दिशाएँ, मांस का दरिया, जिन्दा मुर्दे आदि।
75.	श्री विद्यानिवास मिश्र	**निबन्ध**-आँगन का पंछी, चितवन की छाँह, मैंने सिल पहुँचायी। परम्परा : आधुनिक भारतीय सन्दर्भ, राष्ट्रभाषा की समस्या आदि।
76.	कुबेरनाथ राय	**निबन्ध संग्रह**-प्रिया नीलकंठी, रस आखेटक, गन्ध मादन, लौह मृदंग आदि।